संस्कृतम् (ऐच्छिकम्)

बी. ए.।

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक–124 001

Copyright © 2003, Maharshi Dayanand University, ROHTAK
All Rights Reserved. No part of this publication may be reproduced or stored in a retrieval system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopying, recording or otherwise, without the written permission of the copyright holder.

Maharshi Dayanand University
ROHTAK – 124 001

एकक-1

संस्कृत ग्रन्थानुशीलनम्

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

बालकाण्ड :

ॐ

तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्।
नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्।।१।।

तपस्या और स्वाध्याय (वेदपाठ) में निरत और बोलने वालों में श्रेष्ठ, श्रीनारद मुनि जी से वाल्मीकि जी ने पूछा।। १।।

को न्वस्मिन्साम्प्रतं लोके गुणवान्कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः।। २।।
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः।। ३।।
आत्मवान्को जितक्रोधो द्युतिमान्कोऽनसूयकः।
कस्य बिभ्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे।। ४।।

इस समय इस संसार में गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ (किये हुए उपकार को न भूलने वाले), सत्यवादी, दृढ़व्रत, अनेक प्रकार के चरित्र करने वाले, प्राणीमात्र के हितैषी, विद्वान्, समर्थ, अति दर्शनीय, धैर्यवान्, क्रोध को जीतने वाले, तेजस्वी ईर्ष्या-शून्य और युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करने वाले, कौन है।। २।। ३।। ४।।

एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे।
महर्षे त्वं समर्थोऽसि ज्ञातुमेवंविधं नरम्।। ५।।

हे महर्षे ! यह जानने का मुझे बड़ा चाव है (उत्कट इच्छा है) और आप इस प्रकार के पुरुष को जानने में समर्थ हैं अर्थात् ऐसे पुरुष को बतला भी सकते हैं।। ५।।

श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः।
श्रूयतामिति चामन्त्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत्।। ६।।

यह सुन तीनों लोकों का (भूत, भविष्य और वर्तमान वृत्तान्त जानने वाले देवर्षि नारद प्रसन्न हुए और कहने लगे।। ६।

बहवो दुर्लभाश्चैव ये त्वया कीर्तिता गुणाः।
मुने वक्ष्याम्यहं बुद्ध्वा तैर्युक्तः श्रूयतां नरः।। ७।।

हे मुनि ! आपने जिन गुणों का वर्णन किया है, वे सब दुर्लभ हैं, किन्तु हम अपनी समझ से ऐसे गुणों से युक्त पुरुष को बतलाते हैं, सुनिये।। ७।।

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान्धृतिमान्वशी।। ८।।

महाराज इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न श्रीरामचन्द्र जी को सब लोग जानते हैं। वे नियतस्वभाव (मन को वश में रखने वाले), बड़े बली, अति तेजस्वी, आनन्दरूप, राज के स्वामी।। ८।।

बुद्धिमान्नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्शत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः।।९।।
महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः।। १०।।

सर्वज्ञ, मर्यादावान्, चतुरभागी, श्रीमान्, शत्रुनाशक, विशाल कंधे वाले और गोल तथा मोटी भुजाओं वाले, शङ्ख के समान गरदन पर तीन रेखा वाले, बड़ी ठुड्डी (ठोढ़ी) वाले, चौड़ी छाती वाले और विशाल धनुषधारी हैं। उनकी गरदन की हड्डियाँ (हंसली

हड्डियाँ, मांस से लिपी हुई है. उनकी दोनों भुजाएँ घुटनों तक लटकती हैं। उनका सिर और मस्तक सुन्दर है आर वे बड़े धनुष धारण करते हैं।।९।। १०।।

समः समविभक्ताङ्ग स्निग्धवर्णः प्रतापवान्।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्शुभलक्षणः।। ११।।

उनके शरीर के अंग न बहुत छोटे हैं और न बहुत बड़े (जो अंग जितना लम्बा या छोटा होना चाहिए वह उतना लम्बा या छोटा है। उनके शरीर का चिकना सुन्दर रंग है। वे प्रतापी या तेजस्वी हैं। उनकी छाती मांसल है (अर्थात् हड्डियों पर मांस भरा पड़ता है), उनके दोनों नेत्र बड़े हैं, सब अंग प्रत्यंग सुन्दर हैं और वे सब शुभ लक्षणों से युक्त हैं।। ११।।

धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च प्रजानां च हिते रतः।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्दक्षः क्षमाधिमान्।। १२।।

वे शरणागत की रक्षा करना, इस अपने धर्म को निभाने वाले हैं। प्रतिज्ञा के दृढ़ (वादे के पक्के), अपनी प्रजा हितैषी के हितैषी, अपने आश्रितों की रक्षा करने में समर्थ, प्राप्त, सर्वज्ञ, पवित्र, भक्ताधीन, आश्रितों की रक्षा के लिये बात अथवा आवश्यकता पर ध्यान रखने वाले हैं।। १२।।

प्रजापतिसमः श्रीमान्धाता रिपुनिषूदनः।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता।। १३।।
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।। १४।।

वे ब्रह्मा के समान प्रजा के रक्षण करने वाले, अति शोभावान्, सब के पोषक, शत्रु का नाश करने वाले अर्थात् अपराधी और धर्मद्रोही जो उनके शत्रु हैं उनका नाश करने वाले, धर्म-प्रवर्तक, स्वधर्म और ज्ञानी जन के रक्षक हैं। वेद-वेदाङ्ग के तत्त्व को जानने वाले तथा धनुर्वेदा में अति प्रवीण हैं।। १३।। १४।।

सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः।। १५।।

वे सब शास्त्रों के अर्थों को भली भाँति जानने वाले, अच्छी स्मरणशक्ति (याददाश्त) वाले, बड़ा प्रतिभाशाली, सब के प्रिय, परोपकारी, कभी दैन्य प्रदर्शन न करने वाले अर्थात् बड़े गम्भीर और लौकिक तथा अलौकिक क्रियाओं में कुशल हैं।। १५।।

सर्वाभिगमः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः।। १६।।

जिस प्रकार सब नदियाँ समुद्र तक पहुँचती हैं, उसी प्रकार सज्जन जन सब तक सदा पहुँचते हैं अर्थात् वे अपने-पास समय, क्या भोजन काल में, सब तक अच्छे लोगों की पहुँच बड़ी सहज है। अच्छे लोगों के लिए उनके पास जाने की मनाही नहीं है। वे परम श्रेष्ठ हैं, वे सबको अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पशु-पक्षी, जो कोई सामने हो सबको समान दृष्टि से देखने वाले हैं और सदा प्रियदर्शन हैं।। १६।।

स च सर्वगुणोपेत कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव।। १७।।
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शनः।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः।। १८।।

वे सब गुणों से युक्त कौसल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले हैं। वे गम्भीरता में समुद्र के समान, धैर्य में हिमालय के समान पराक्रम में विष्णु की तरह, प्रियदर्शनत्व में चन्द्रमा की तरह, क्रोध में कालाग्नि के समान और क्षमा करने में पृथिवी के समान हैं।। १७।। १८।।

धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः।
रामेदंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम्।। १९।।

वे दान देने में कुबेर के समान हैं अर्थात् जब देते हैं तब अच्छी तरह देते हैं, सत्यभाषण में मानो दूसरे धर्म हैं, इन गुणों से युक्त सत्यपराक्रमी श्री रामचन्द्र जी हैं।। १९।।

ज्येष्ठं श्रेष्ठगुणैर्युक्तं प्रियं दशरथः सुतम्।
प्रकृतीनां हितैर्युक्त प्रकृतिप्रियकाम्यया।। २०।।
यौवराज्येन संयोक्तुमैच्छत्प्रीत्या महीपतिः।
तस्याभिषेकसंभारान्दृष्ट्वा भार्याऽथ कैकयी।। २१।

(ऐसे) श्रेष्ठ गुणों से युक्त प्यारे तथा प्रजा के हित को चाहने वाले ज्येष्ठ (पुत्र) श्रीरामचन्द्र जी को, प्रजा की हितकामना के उद्देश्य से, महाराज दशरथ ने प्रीतिपूर्वक युवराज पद देना चाहा। श्रीरामाभिषेक की तैयारियाँ देख, महाराज दशरथ की प्रिय महिषी कैकेयी ने।। २०।। २१।।

पूर्वं दत्तवरा देवी वरमेनमयाचत।
विवासनं च रामस्य भरतस्याभिषेचनम्।। २२।।

पहले पाये हुए दो वरदान (महाराज दशरथ से) माँगे। एक वर से श्रीरामचन्द्र जी के लिए देश निकाला और दूसरे से (अपने पुत्र) भरत का राज्याभिषेक।। २२।।

स सत्यवचनाद्राजा धर्मपाशेन संयतः।
विवासयामास सुतं रामं दशरथः प्रियम्।। २३।।

धर्मपाश से बद्ध, (अर्थात् अपनी बात के धनी होने के कारण) सत्यवादी महाराज दशरथ ने, प्राणों से भी बढ़ कर अपने प्यारे पुत्र श्रीरामचन्द्र जी को वनगमन की आज्ञा दी।। २३।।

स जगाम वनं वीरः प्रतिज्ञामनुपालयन्।
पितुर्वचननिर्देशात्कैकेय्याः प्रियकारणात्।। २४।।

वीरवर श्रीरामचन्द्र जी पिता की आज्ञा का पालन करने और कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए, पिता की आज्ञानुसार वन को गये।। २४।।

तं व्रजन्तं प्रियो भ्राता लक्ष्मणोऽनुजगाम ह।
स्नेहाद्विनयसम्पन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः।। २५।।

माता सुमित्रा के आनन्द को बढ़ाने वाले स्नेह और विलास से सम्पन्न श्रीलक्ष्मण जी (भ्रातृ-स्नेह-वश) श्री रामचन्द्र जी के पीछे हो लिये।। २५।।

भ्रातरं दयितो भ्रातुः सौभ्रात्रमनुदर्शयन्।
रामस्य दयिता भार्या नित्यं प्राणसमा हिता।। २६।।
जनकस्य कुले जाता देवमायेव निर्मिता।
सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा वधूः।
सीताप्यनुगता रामं शशिनं रोहिणी यथा। २७।।

दोनों भाइयों को जाते देख, श्री राम जी की प्राणों के समान सदा हितैषिणी, राजा जनक की बेटी, साक्षात् लक्ष्मी का अवतार और स्त्रियों के सर्वोत्तम गुणों से युक्त, श्रीसीता जी भी श्रीरामचन्द्र जी के साथ वैसे ही गईं जैसे चन्द्रमा के साथ रोहिणी।। २६।। २७।।

पौरैरनुगतो दूरं पित्रा दशरथेन च।
शृङ्गवेरपुरे सूतं गङ्गाकूले व्यसर्जयत्।। २८।।

इन तीनों के पीछे दूर तक महाराज दशरथ और पुरवासी भी गये। शृंगवेरपुर में पहुँच कर, गंगा जी के किनारे, श्रीराम चन्द्र जी ने (रथ सहित अपने) सारथी (सुमन्त) को भी लौटा दिया।। २८।।

गुहमासाद्य धर्मात्मा निषादाधिपतिं प्रियम्।
गुहेन सहितो रामो लक्ष्मणेन च सीतया।। २९।।
ते वनेन वनं गत्वा नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः।
चित्रकूटमनुप्राप्य भरद्वाजस्य शासनात्।। ३०।।

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी निषादों (मल्लाहों) के मुखिया अपने प्यारे गुह से मिले। श्रीरामचन्द्र जी, श्रीलक्ष्मण जी, श्रीसीता जी और गुह बहुत जलवाली अर्थात् बड़ी-बड़ी नदियों को पार कर, अनेक वनों में पैदल घूमे-फिरे और भरद्वाज मुनि के बतलाये हुए चित्रकूट में पहुँचे।। २९।। ३०।।

रम्यमावसथं कृत्वा रममाणा वने त्रयः।
देवगन्धर्वसंकाशास्तत्र ते न्यवसन्सुखम्।। ३१।।

उस रम्य स्थान में तीनों (श्रीराम, श्रीलक्ष्मण और सीता) रम गये अर्थात् पर्णकुटी बनाकर रहने लगे, बस गये। देवता और गन्धर्वों की तरह वहाँ ये तीनों सुखपूर्वक रहने लगे।। ३१।।

चित्रकूटं गते रामे पुत्रशोकातुरस्तदा।
राजा दशरथः स्वर्गं जगाम विलपन्सुतम्।। ३२।।

श्रीरामचन्द्र जी के चित्रकूट में पहुँच जाने के बाद (उधर) अयोध्या में पुत्र-वियोग में विकल, महाराज दशरथ हा ३ हा राम !! कह कर विलाप करते हुए, स्वर्ग को सिधारे।। ३२।।

मृते तु तस्मिन्भरतो वसिष्ठप्रमुखैर्द्विजैः।
नियुज्यमानो राज्याय नैच्छद्राज्यं महाबलः।। ३३।।

(इस प्रकार) महाराज के स्वर्गवासी होने पर, वसिष्ठादि प्रमुख द्विजवरों ने, श्रीभरत जी को राजसिंहासन करना चाहा, किन्तु भरत जी ने यह स्वीकार न किया।। ३३।।

स जगाम वनं वीरो रामपादप्रसादकः।
गत्वा तु सुमहात्मानं रामं सत्यपराक्रमम्।। ३४।।

और वे पूज्य श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न कर, मनाने को उनके पास वन में गये। सत्यपराक्रमी, परम महात्मा श्रीरामचन्द्र जी के पास पहुँच कर,। ३४।।

अयाचद् भ्रातरं राममार्यभावपुरस्कृतः।
त्वमेव राजा धर्मज्ञ इति रामं ह्यवोऽब्रवीत्।। ३५।।

उन्होंने अत्यन्त विनय भाव से प्रार्थना की - हे राम ! आप धर्मज्ञ हैं (अर्थात् यह धर्मशास्त्र की आज्ञा है कि बड़े भाई के सामने छोटा भाई राज्य नहीं कर सकता) अतः आप ही राजा बनने योग्य हैं।। ३५।।

रामोऽपि परमोदारः सुमुखः सुमहायशाः।
न चैच्छत्पितुरादेशाद्राज्यं रामो महाबलः।। ३६।।

किन्तु श्रीराम जी के अति उदार, अत्यन्त प्रसन्नवदन और अति यशस्वी होने पर भी, उन महाबली श्रीराम जी ने पिता के आदेशानुकूल, राज्य करना स्वीकार नहीं किया।। ३६।।

पादुके चास्य राज्याय न्यासं दत्त्वा पुनः पुनः।
निवर्तयामास ततो भरतं भरताग्रजः।। ३७।।

राज्य का कार्य चलाने के लिए भरताग्रज श्रीराम जी ने अपनी (प्रतिनिधि रूपी) खड़ाऊँ (भरत को) दीं और अनेक बार उन्हें देकर भरत जी को लौटाया।। ३७।।

स काममनवाप्यैव रामपादावुपस्पृशन्।
नन्दिग्रामेऽकरोद्राज्यं रामागमनकाङ्क्षया।। ३८।।

भरत जी अपने मनोरथ को इस प्रकार प्राप्त कर तथा श्रीराम जी के चरणों को स्पर्श कर तथा श्रीरामचन्द्र जी के आने की प्रतीक्षा करते हुए, नन्दिग्राम में रह कर, राज्य करने लगे।। ३८।।

गते तु भरते श्रीमान्सत्यसंधो जितेन्द्रियः।
रामस्तु पुनरालक्ष्य नागरस्य जनस्य च।। ३९।।
स्वरं त्रिशिरसं चैव दूषणं चैव राक्षसम्।
निजघान रणे रामस्तेषां चैव पदानुगान्।। ४०।।

कामरूपिणी (अपनी इच्छानुसार अपना रूप बदलने वाली) राक्षसी सूपनखा को, उन्होंने विरूप किया। तत्पश्चात् सूपनखा के वाक्यों से उत्तेजित हो लड़ने के लिये आये हुए खरदूषण त्रिशिरादि तथा उनके सब अनुचरों को श्रीरामचन्द्र जी ने यमलोक पहुँचा दिया।। ३९।। ४०।।

वने तस्मिन्निवसता जनस्थाननिवासिनाम्।
रक्षसां निहतान्यासन्सहस्राणि चतुर्दश।। ४८।।

उस वन में बसते हुए, श्रीरामचन्द्र जी ने चौदह हजार जन स्थानवासी राक्षसों को मार डाला।। ४८।।

ततो ज्ञातिवधं श्रुत्वा रावणः क्रोधमूर्छितः।
सहायं वरयामास मारीचं नाम राक्षसम्।। ४९।।

अपनी जाति वालों के वध का (गड़) समाचार सुन, रावण बहुत क्रुद्ध हुआ और मारीच नाम राक्षस से सहायता माँगी।। ४९।।

वार्यमाणः सुबहुशो मारीचेन स रावणः।
न विरोधो बलवता क्षमो रावण तेन ते।। ५०।।

मारीच ने रावण को बहुत मना किया (और कहा कि) हे रावण ! अपने से अधिक बलवान के साथ शत्रुता करनी अच्छी बात नहीं है।। ५०।।

अन्वागच्छत तु तद्भावं रावणः कालचोदितः।
जगाम सहमारीचस्तस्याश्रमपदं तदा।। ५१।।

किन्तु कालवशवर्ती रावण ने मारीच की बातों का अनादर किया और उसी समय मारीच को साथ ले वह उस आश्रम में गया जहाँ श्रीरामचन्द्र जी रहते थे।। ५१।।

तेन मायाविना दूरमपवाह्य नृपात्मजौ।
जहार भार्यां रामस्य गृध्रं हत्वा जटायुषम्।। ५२।।

मारीच दोनों राजकुमारों को आश्रम से दूर ले गया। उसी समय रावण, जटायु नामक गिद्ध को मार, श्रीरामचन्द्र जी की भार्या श्रीजानकी जी को हर ले गया।। ५२।।

गृध्रं च निहतं दृष्ट्वा हृतां श्रुत्वा च मैथिलीम्।
राघवः शोकसंतप्तो विललापाकुलेन्द्रियः।। ५३।।

जटायु को मृतप्राय दशा में देख और उससे सीता जी का हरा जाना सुन, श्रीरामचन्द्र जी बहुत शोकसन्तप्त हुए और विकल हो उन्होंने विलाप किया।। ५३।।

ततस्तेनैव शोकेन गृध्रं दग्ध्वा जटायुषम्।
मार्गमाणो वने सीतां राक्षसं ददर्श ह।। ५४।।

तत्पश्चात् उस शोक से व्याकुल श्रीराम जी ने, जटायु की अन्त्येष्टि क्रिया कर, वन में सीता जी को ढूँढ़ते समय, एक राक्षस को देखा।। ५४।।

कबन्धं नाम रूपेण विकृतं घोरदर्शनम्।
तं निहत्य महाबाहुर्ददाह स्वर्गतश्च सः।। ५५।।

उस राक्षस का नाम कबन्ध था और वह बड़ा विकराल और भयंकर रूप का था। श्रीरामचन्द्र जी ने उसे मार कर, दग्ध किया जिससे वह स्वर्ग गया।। ५५।।

स चाऽऽस्य कथयामास शबरीं धर्मचारिणीम्।
श्रमणीं धर्मनिपुणां अभिगच्छेति राघवम्।। ५६।।

स्वर्ग जाते समय कबन्ध ने तपस्विनी धर्मचारिणी शबरी के पास जाने के लिए श्रीरामचन्द्र जी से कहा।। ५६।।

सोऽभ्यगच्छन्महातेजाः शबरीं शत्रुसूदनः।
शबर्या पूजितः सम्यग्रामो दशरथात्मजः।। ५७।।

शत्रु का नाश करने वाले महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी शबरी के पास गये। शबरी ने दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी का भली भाँति पूजन किया। ५७।

पम्पातीरे हनुमता संगतो वानरेण ह।
हनुमद्वचनाच्चैव सुग्रीवेण समागतः।। ५८।।

पंपासर के समीप उनकी भेंट हनुमान नामक वानर से हुई और हनुमान जी के कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी का सुग्रीव से समागम हुआ।। ५८।।

सुग्रीवाय च तत्सर्वं शंसदाम्नो महाबलः।
आदितस्तद्धृतं सीतागमनं विशेषतः।। ५६।।

पराक्रमी श्रीरामजी ने आदि से लेकर और विशेष कर सीता जी के हरे जाने का, सब हाल सुग्रीव से कहा।। ५६।

सुग्रीवश्यापि तत्सर्वं श्रुत्वा रामस्य वानरः।
चकार सख्यं रामेण प्रीतश्चैवाग्निसाक्षिकम्।। ५७।।

वानर सुग्रीव ने भी श्रीरामचन्द्र जी का सारा वृत्तान्त सुन और अग्नि को साक्षी कर श्रीराम जी से मैत्री की।। ५७।

ततो वानरराजेन वैरानुकथनं प्रति।
रामायावेदितं सर्वं प्रणिधाद्दुःखितेन च।। ५८।।

तदनन्तर वानरराज ने श्रीरामचन्द्र जी से दुःखी हो बाली के साथ शत्रुता होने का सम्पूर्ण हाल कहा।। ५८।।

प्रतिज्ञातं च रामेण तदा वालिवधं प्रति।
वालिनश्च बलं तत्र कथयामास वानरः।। ५९।।

उसे सुन, श्रीरामचन्द्र जी ने बाली के वध की प्रतिज्ञा की। तब सुग्रीव ने बाली के बल-पराक्रम का वर्णन किया।। ५९।

सुग्रीवः शङ्कितस्तस्यारीन्नित्यं वीर्येण राघवे।
राघवप्रत्ययार्थं तु दुन्दुभेः कायमुत्तमम्।। ६३।।

सुग्रीव को श्रीरामचन्द्र जी के अत्यंत बली होने में शंका थी, अतः श्रीरघुनाथ जी की जानकारी के लिए दुन्दुभी असुर के बड़े लंबे शरीर की हड्डियां का।। ६३।।

दर्शयामास सुग्रीवो महापर्वतसंनिभम्।
उत्सृज्य चास्थि महाबाहुः प्रेक्ष्य चास्थि महाबलः।। ६४।।

ढेर, जो एक बड़े पहाड़ के समान था, सुग्रीव ने लंबी भुजा वाले श्रीरामचन्द्र जी को दिखलाया। उसको देख महा बलवान श्रीरामचन्द्र जी मुस्कराए।। ६४।।

पादाङ्गुष्ठेन चिक्षेप संपूर्णं दशयोजनम्।
विभेद च पुनः साला-सप्तकेन महेषुणा।। ६५।।

और पैर के अँगूठे की ठोकर से हड्डियों के उस ढेर को वहां से दस योजन दूर फेंक दिया। फिर एक ही बाण सात ताल वृक्षों को छेदता हुआ।। ६५।।

गिरिं रसातलं चैव जनयन्प्रत्ययं तदा।
ततः प्रीतमनास्तेन विश्वस्तः स महाकपिः।। ६६।।

पहाड़ फोड़, रसातल को चला गया। तब तो सुग्रीव का संदेह दूर हो गया। तदनन्तर सुग्रीव प्रसन्न हो और विश्वास कर।। ६६।।

किष्किन्धां रामसहितो जगाम च गुहां तदा।
ततोऽगर्जद्धरिवरः सुग्रीवो हेमपिङ्गलः।। ६७।।

श्रीरामजी को साथ ले गुफा की तरह पर्वतों के बीच बसी हुई किष्किन्धा पुरी को गये। वहाँ पहुँच पीले नेत्रों वाले सुग्रीव ने जोर से गर्जना की।। ६७।।

तेन नादेन महता निर्जगाम हरीश्वरः।
आनुधान्य तदा तारः सुग्रीवेण समागतः।

उस महागर्जन को सुन महाबली बाली बाहर निकला। (तारा के मना करने पर) बालि ने तारा को समझाया और वह सुग्रीव से आ भिड़ा।। ६८।।

निजघान च तत्रैनं शरेणैकेन राघवः।
ततः सुग्रीववचनाद्धत्वा वालिनमाहवे।। ६९।।

श्रीरामचन्द्र जी ने इसी बीच में एक ही बाण से युद्ध करते हुए बाली को मार डाला। तदनन्तर सुग्रीव को लेकर वे सुग्रीव से युद्ध करते समय बाली को मार कर।। ६९।।

सुग्रीवमेव तद्राज्ये राघवः प्रत्यपादयत्।
स च सर्वान्समानीय वानरान्वानरर्षभः।। ७०।।

श्री रामचन्द्र जी ने किष्किन्धा का राज्य सुग्रीव को दे दिया। तब वानरों के राजा सुग्रीव ने वानरों को एकत्र कर।। ७०।।

विदेशः प्रस्थापयामास दिदृक्षुर्जनकात्मजाम्।
ततो गृध्रस्य वचनात्संपातेर्हनुमान्बली।। ७१।।

उनको सीता जी को खोजने के लिए चारों ओर भेजा। तब सम्पाति नामक गृद्ध के बतलाने पर, बलवान् हनुमान् ने।। ७१।।

शतयोजनविस्तीर्णं पुप्लुवे लवणार्णवम्।
तत्र लंका समासाद्य पुरीं रावणपालिताम्।। ७२।।

सौ योजन चौड़े खारी समुद्र को लाँघकर रावणपालित लंकापुरी में पहुँचे।। ७२।।

ददर्श सीतां ध्यायन्तीमशोकवनिकां गताम्।
निवेदयित्वाऽभिज्ञानं प्रवृत्तिं च निवेद्य च।। ७३।।

अशोकवन में श्रीरामचन्द्र जी के ध्यान में मग्न सीता जी को देखा। फिर श्रीरामचन्द्र जी की दी हुई अँगूठी सीता जी को दे दी और श्रीरामचन्द्र जी का सब हाल कहा।। ७३।।

समाश्वास्य च वैदेहीं भर्त्सयामास रावणम्।
पञ्च सेनाग्रगान्हत्वा सप्त मन्त्रिसुतानपि।। ७४।।

सीता जी को धीरज बँधाया। फिर अशोकवाटिका के बाहर वाले सब फाटक को तोड़ डाला तथा (रावण के) पाँच सेनापतियों को, सात मंत्रि-पुत्रों को।। ७४।।

शूरमक्षं च निष्पिष्य ग्रहणं समुपागतम्।
अस्त्रेणोन्मुक्तमात्मानं ज्ञात्वा पैतामहाद्वरात्।। ७५।।

और शूरवीर (रावणपुत्र) अक्षयकुमार को पीस कर (अर्थात् मार कर) आत्मसमर्पण किया। हनुमान जी ने ब्रह्मा जी के वरदान के प्रभाव से अपने को ब्रह्मास्त्र से मुक्त जान कर भी।। ७५।।

मर्षयन्राक्षसान्वीरो यन्त्रिणस्तान्य दृच्छया।
ततो दग्ध्वा पुरीं लंकामृते सीतां च मैथिलीम्।। ७६।।

छूटने का कोई यत्न न किया। और अपने को रस्सी से बँधवा राक्षसों द्वारा इधर-उधर खिंचवाया। फिर श्री सीता जी के स्थान को छोड़ समस्त लंका को भस्म कर।। ७६।।

रामाय प्रियमाख्यातुं पुनरायान्महाकपिः।
सोऽभिगम्य महात्मानं कृत्वा रामं प्रदक्षिणम्।। ७७।।

हनुमान जी, श्रीराम जी को यह सुखदायी संवाद सुनाने को लौट आये। श्रीरामचन्द्र जी की परिक्रमा कर, बलवान हनुमान जी ने।। ७७।।

न्यवेदयदमेयात्मा दृष्टा सीतेति तत्त्वतः।
ततः सुग्रीवसहितो गत्वा तीरं महोदधेः।। ७८।।

सीता जी के देखने का ज्यों का त्यों सारा वृत्तान्त उनसे कहा। तब सुग्रीव आदि को साथ ले (श्रीरामचन्द्र जी) समुद्र के तट पर पहुँचे।। ७८।।

समुद्रं क्षोभयामास शरैरादित्यसंनिभैः।
दर्शयामास चात्मानं समुद्रः सरितांपतिः।। ७९।।

और सूर्य के समान चमकते (अर्थात् पैने) बाणों से समुद्र को क्षुब्ध कर डाला। तब नदीपति समुद्र सामने आया।। ७९।।

समुद्रवचनाच्चैव नलं सेतुमकारयत्।
तेन गत्वा पुरीं लंकां रावणं समरे।। ८०।।

समुद्र के कथनानुसार नल ने समुद्र का पुल बाँधा। उस पुल पर हो कर श्रीरामचन्द्र जी लंका पहुँचे और युद्ध में रावण का वध कर।। ८०।।

रामः सीतामनुप्राप्य परां व्रीडामुपागमत्।
तामुवाच ततो रामः परुषं जनसंसदि।। ५१।।

सीता जी को प्राप्त कर श्री बहुत संकोच में पड़ गये। श्रीरामचन्द्र जी ने सब के सामने सीता जी से कठोर वचन कहे ५१।।

अमृष्यमाणा सा सीता विवेश ज्वलनं सती।
ततोऽग्निवचनात्सीतां ज्ञात्वा विगतकल्मषाम्।। ८२।।

इन कठोर वचनों को न सहकर, सीता जी ने जलती आग में प्रवेश किया। तब अग्निदेव की साक्षी से सीता को निष्पाप जान।। ८२।।

बभौ रामः संप्रहृष्टः पूजितः सर्वदैवतैः।
कर्मणा तेन महता त्रैलोक्यं सचराचरम्।। ८३।।

सब देवताओं से पूजित श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए। महान श्रीरामचन्द्र जी के इस कार्य से (राक्षसवध से) तीनों लोक चर अचर।। ८३।।

सदेवर्षिगणं तुष्टं राघवस्य महात्मनः।
अभिषिच्य च लंकायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।। ८४।।

देव और ऋषि सन्तुष्ट हुए। तदनन्तर राक्षसराज विभीषण लंका के राजसिंहासन पर बिठा।। ८४।।

कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रभुमोदवान्।
देवताभ्यो वरं प्राप्य समुत्थाप्य च वानरान्।। ८५।।

श्रीरामचन्द्र कृतार्थ हुए, निश्चिन्त हुए और हर्षित हुए। देवताओं से वर पा और मृत वानरों को फिर जीवित कर।। ८५।।

अयोध्यां प्रस्थितो रामः पुष्पकेण सुहृद्वृतः।
भरद्वाजाश्रमं गत्वा रामः सत्यपराक्रमः।। ८६।।

सुग्रीव-विभीषणादि सहित पुष्पक विमान में बैठ कर अयोध्या को रवाना हुए। भरद्वाज ऋषि के आश्रम में पहुँच सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने।। ८६।।

भरतस्यान्तिकं रामो हनूमन्तं व्यसर्जयत्।
पुनराख्यायिकां जल्पन्सुग्रीवसहितस्तदा।। ८७।।

हनुमान जी को भरत जी के पास भेजा फिर सुग्रीव से अपना पूर्व वृत्तान्त कहते हुए।। ८७।।

पुष्पकं तत्समारुह्य नन्दिग्रामं ययौ तदा।
नन्दिग्रामे जटां हित्वा भ्रातृभिः सहितोऽनघः।। ८८।।

(श्री रामचन्द्र) पुष्पक पर सवार हो, नन्दिग्राम में पहुँचे। अच्छी तरह पिता की आज्ञा पालन करने वाले श्रीरामचन्द्र जी भाइयों सहित जटा विसर्जन कर, अर्थात् बड़े-बड़े बालों को कटवा।। ८८।।

रामः सीतामनुप्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान्।
प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।। ८९।।

और सीता को प्राप्त कर, अयोध्या की राजगद्दी पर बिराजे। श्रीरामचन्द्र जी के राज-सिंहासनासीन होने पर सब प्रजाजन आनन्दित, सन्तुष्ट और पुष्ट तथा सुधार्मिक हो गये हैं।। ८९।।

निरामयो हारोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः।
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।। ९०।।

उनको न तो कोई शारीरिक व्यथा हो रही है और न मानसिक चिन्ता ही और न दुर्भिक्ष ही का भय रह गया। किसी पुरुष को पुत्रशोक नहीं होता है।। ९०।।

नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः।
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।। ९१।।

और न कोई स्त्री कभी विधवा होती है। सब स्त्रियाँ पतिव्रता ही हैं और होंगी न कभी किसी के घर में आग लगती और न कोई जल में डूब कर ही मरता है।। ९१।।

न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा।
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।। ६२।।

इस प्रकार न तो कभी आँधी-तूफान से हानि होती है, और न ज्वर आदि महामारी का भय उत्पन्न होता है। न कोई भूखे मरता है और न किसी के घर चोरी होती है।। ६२।।

नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च।
नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा।। ६३।।

राजधानी और राष्ट्र धन-धान्य से भरे पूरे रहते हैं। सब लोग उसी प्रकार आनन्द सहित दिन बिताते हैं जैसे सत्ययुग में लोग बिताया करते हैं।

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः।
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा ब्रह्मलोकं गमिष्यति।। ६४।।

श्रीरामचन्द्र जी ने सौ अश्वमेध यज्ञ किये हैं और ढेरों स्वर्ण का दान दिया है। नारद जी वाल्मीकि जी से कहते हैं, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी करोड़ों गौएँ देकर वैकुण्ठ में जायेंगे।। ६४।।

असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः।
राजवंशाञ्शतगुणान्स्थापयिष्यति राघवः।। ६५।।

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी ब्राह्मणों को अपरिमित धन देकर, राजवंश की प्रथम से सौ गुनी अधिक उन्नति करेंगे।। ६५।।

चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन्स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।। ६६।।

और चारों वर्णों के लोगों को अपने-अपने वर्णानुसार कर्त्तव्य पालन में लगायेंगे। ११,००० वर्षों ।। ६६।।

रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति।
इदं पवित्रं पापघ्नं पुण्यं वेदैश्च सम्मितम्।।
यः पठेद्रामचरितं सर्वपापैः प्रमुच्यते।। ६७।।

फलस्तुति

राज्य कर, श्रीरामचन्द्र जी वैकुण्ठ जायेंगे। इस पुनीत, पाप छुड़ाने वाले, पुण्यप्रद, रामचरित को जो पढ़ता है, वह सब पापों से छूट जाता है ; क्योंकि यह सब वेदों के तुल्य है।। ६७।।

एतदाख्यानमायुष्यं पठन्रामायणं नरः।
सपुत्रपौत्रः सगणः प्रेत्य स्वर्गे महीयते।। ६८।।

आयु बढ़ाने वाली (बालरामायण की) कथा को जो श्रद्धा-भक्ति पूर्वक पढ़ता है, वह अन्त में पुत्र-पौत्रों और नौकर चाकरों सहित स्वर्ग में पूजा जाता है।। ६८।।

पठन्द्विजो वागृषभत्वमीयात्
क्षत्रियो भूमिपतित्वमीयात्।
वणिग्जनः पण्यफलत्वमीयात्
जनश्च शूद्रोऽपि महत्त्वमीयात्।। ६९।।

इति प्रथमः सर्गः

इस बालरामायण को ब्राह्मण पढ़े तो वह वेद-शास्त्रों में पारंगत हो, क्षत्रिय पढ़े तो पृथ्वीपति हो, वैश्य पढ़े तो उसका अच्छा व्यापार चले और शूद्र पढ़े तो उसका महत्त्व अर्थात् अपनी जाति में श्रेष्ठत्व बढ़े या उन्नति हो। ६९।।

बालकाण्ड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ।।

(इन ६९ श्लोकों के प्रथम सर्ग ही का नाम "मूल रामायण" या बाल रामायण है। इसका स्वाध्याय प्रायः आस्तिक हिन्दू नित्य किया करते हैं। इसको ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के अतिरिक्त शूद्र भी पढ़ सकते हैं, यह बात ६९वें श्लोक से स्पष्ट होती है।)

रामायण

ऐतिहासिक महाकाव्यों का विकास

इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशंसी - अथर्ववेद में चारों वेदों के नामोल्लेख के बाद इतिहास, पुराण, गाथा एवं नाराशंसी का उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि वेदों के क्लिष्ट कर्मकांड को लोकप्रिय बनाने के लिए कतिपय उपायों का आश्रय लिया गया। वैदिक तत्त्वों को सुबोध एवं सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए कुछ कथाएँ आविष्कृत की गईं, जिनका माध्यम लेकर वैदिक मंत्रों का भाव स्पष्ट हो जाता था। अतएव महाभारत में कहा गया है कि इतिहास और पुराण से वेदार्थ का स्पष्टीकरण एवं उसकी विशद व्याख्या होती है :- इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। (महा०)

वेदों के समय में ही इतिहास आदि की कल्पना हुई और इन्हें महत्वपूर्ण बनाने के लिए पंचम वेद कहा गया। इन रचनाओं को चार भागों में विभक्त किया गया। (१) इतिहास - इति-ह-आस, ऐसी घटना हुई थी। वेदों में वर्णित इतिहास प्रामाणिक एवं शाश्वत इतिहास है। जैसे - विराट् ब्रह्म (अथर्व १०-७), ज्येष्ठ ब्रह्म (अ० १०-८), विराट् (अ० ८-९), इन्द्र अहल्या - (ऋ० २०)। पुराण - पुरावृत्त, पुरातत्त्व आदि से संबद्ध सभी विषय। जैसे - सृष्टि उत्पत्ति, भूगोल, खगोल, विविध द्वीप आदि का वर्णन। इसके सुन्दर उदाहरण के लिए भृगु सूक्त (अथर्व० कांड ९२ सूक्त १) द्रष्टव्य है। (३) गाथा - इसमें प्राचीन अर्ध-ऐतिहासिक, नैतिक, वास्तविक या काल्पनिक - सम्मिलित हैं। जैसे - इन्द्र वृत्र-कथानक (ऋ० २-१५, पूरा सूक्त), पुरुरवा उर्वशी - (ऋ० १०-९५), विश्वामित्र-नदी (ऋ० ३-३३), अगस्त्य-लोपामुद्रा (ऋ० १-१७९) आदि। (४) नाराशंसी - वीर स्तुति, वीर गाथा, अतिथि अभिनन्दन आदि। ययातिः नहुषः (ऋ० ६-१०१-४ से ६), नहुषः मानवः (ऋ० ६-१०१ ७ से ९), भरतः (ऋ० ५-२७ - पर्श क्षेत्र (अथर्व० २०-१२७)।

वैदिक साहित्य में इन चारों शब्दों का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया गया है। बाद में लौकिक साहित्य की रचना के साथ ही प्राचीन शब्दों को नवीन अर्थों ने अपना लिया गया।

इतिहास, पुराण - संक्षेप की दृष्टि से प्राचीन चार शब्दों के स्थान पर इतिहास और पुराण शब्द शेष रहे। कात्यायन आदि ने इतिहास शब्द को रुचिकर माना और इसी में सबका अन्तर्भाव माना है। छान्दोग्य उपनिषद् (७.१.४) में इतिहास - पुराण को एक समन्वित शब्द माना गया है। पुराण-कर्ताओं ने इतिहास शब्द की अपेक्षा 'पुराण' शब्द को रुचिकर माना है और उसमें इतिहास आदि का अन्तर्भाव किया है। अतएव पुराणों में इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी सभी आ जाते हैं। परवर्ती साहित्य से ज्ञात होता है कि 'पुराण' शब्द अधिक रुचिकर न रहा, अतः इतिहास को पुनः पृथक् किया गया। इस प्रकार विकास की दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि इतिहास से ऐतिहासिक काव्य, पुराण से पुराण या पुरातत्त्व ग्रन्थ, गाथा से कथा और आख्यान-साहित्य तथा नाराशंसी से ऐतिहासिक वीर-काव्य, रामायण, महाभारत आदि, विकसित हुए।

रामायण, महाभारत - रामायण और महाभारत के विकास का इतिहास श्रौत कर्मकाण्ड के काल से प्रारम्भ है। श्रौत कर्मकाण्ड के पश्चात् नैतिक प्रवचन आदि की परम्परा प्राचीन-काल से प्रचलित है। प्रारम्भ में इसके लिए नैतिक सूक्तपूर्ण उपाख्यान आदि वैदिक आख्यान लिए गए। तत्पश्चात् शनैः-शनैः नैतिक शिक्षाओं के लिए मर्यादापुरुषोत्तम राम एवं योगिराज कृष्ण की गाथाएँ भी उनमें स्थान पाने लगीं। इसका ही विकास छोटे काव्य आदि के रूप में हुआ। ये ही काव्य-ग्रन्थ महर्षि वाल्मीकि और वेदव्यास के हाथों में आकर ग्रन्थ बन गए और रामायण तथा महाभारत के रूप में सुपुष्ट, परिष्कृत एवं परिवर्धित ग्रन्थ बने।

इस संदर्भ में 'कुशीलव' शब्द का परिचय भी मनोरंजक है। वाल्मीकि रामायण और उत्तररामचरित आदि से ज्ञात होता है कि बालक कुश और लव ने ही सर्वप्रथम रामायण का मंच-गान या अभिनय-संगीत प्रस्तुत किया था। यह परम्परा इतनी रुचिकर हुई कि बाल-संगीत को भी कार्यक्रमों का अंग माना जाने लगा। रंग-मंचीय अभिनयों के लिए बाल संगीत का संकलन अनिवार्य सा हो गया। बाल-संगीत 'कुश-लव' न रहकर 'कुशीलव' हो गया। फलतः यह शब्द किसी भी आयु के अभिनेता के लिए प्रचलित हो गया।

रामायण और महाभारत के प्रचार और प्रसार में प्राचीन सूतों का बहुत हाथ रहा है। चारण, भाट, बन्दी, सूत आदि ग्रामों और नगरों में अपनी आजीविका के निमित्त लोकप्रिय इन आख्यानों को सुनाया करते थे। इनमें से कुछ वक्तृत्व एवं विद्वत्ता भी होते थे तथा कुछ आशु कवि भी होते थे। वे समय और आवश्यकता के अनुसार आधुनिक कथावाचकों आदि के तुल्य अपना

भी कुछ नवीन कलाकृतियां जोड़ दिया करते थे। समयानुसार ये प्रक्षिप्त अंश भी मूल ग्रन्थ के साथ संबद्ध होने से मूल-ग्रन्थगत् माने जाने लगे। मूल ग्रन्थ के साथ संबद्ध ये प्रक्षिप्त अंश प्रान्तीय भेद के कारण विभिन्न संस्करणों के रूप में उपलब्ध होते हैं।

रामायण

संक्षिप्त परिचय - रामायण महर्षि वाल्मीकि की कृति है। इसमें रामकथा आद्योपान्त वर्णित है। इसमें सात काण्ड हैं बालकांड, अयोध्याकांड, अरण्यकांड, किष्किन्धाकांड, सुन्दरकांड, युद्धकांड और उत्तरकांड। इसमें लगभग २४ सहस्र श्लोक हैं, अतः इसे 'चतुर्विंशति-साहस्री संहिता' भी कहते हैं। यह मुख्यतः अनुष्टुप् श्लोकों में है। गायत्री मंत्र में २४ वर्ण होते हैं, अतः यह मान्यता है कि इनको आधार मानकर २४ हजार श्लोक बनाए गए हैं और प्रत्येक एक हजार श्लोक के बाद गायत्री के नए वर्ण से नया श्लोक आरम्भ होता है। रामचरित का सर्वांगपूर्ण वर्णन होने के कारण यह धार्मिक-ग्रन्थ एवं आचार संहिता माना जाता है। यह परकालीन कवियों, नाटककारों और गद्य लेखकों का उपजीव्य (आधार) काव्य माना जाता है। भाव, भाषा, शैली, परिष्कार और काव्यत्व के कारण रामायण का स्थान भारतीय काव्यों में सर्वोच्च माना जाता है।

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।
(रामायण, बालकांड २-३६-७)

संस्करण - (१) बम्बई संस्करण (देवनागरी संस्करण) - निर्णय सागर प्रेस, बम्बई में १८७२ ई० में प्रकाशित (रूपान्तरकार के० पी० परब)। यह संस्करण उत्तर तथा दक्षिण भारत में सबसे अधिक प्रचलित एवं प्रामाणिक है। इसकी सबसे प्रसिद्ध टीका 'तिलक' है, जिसे प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने अपने आश्रयदाता राजा 'राम' के नाम से की है। (२) बंगला संस्करण - यह संस्करण जी० गोरेशियो ने (१८४३-१८६७ ई०) में प्रकाशित किया था और इसका इटैलियन भाषा में अनुवाद किया था। यूरोप में सर्वप्रथम यही संस्करण छपा था। इसे गौडीय संस्करण भी कहते हैं। (३) पश्चिमोत्तर संस्करण - (काश्मीरी संस्करण) यह संस्करण रिसर्च विभाग, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में १८७५ में प्रकाशित हुआ। इसके टीकाकार का नाम 'कटक' है। (४) दाक्षिणात्य संस्करण - पुष्पगणेषम् (मद्रास) से १८२६-३० ई० में प्रकाशित। बम्बई संस्करण से इसमें बहुत कम पाठभेद हैं। बंगला और पश्चिमोत्तर संस्करणों में बहुत पाठभेद हैं। पाठभेद का मुख्य कारण रामायण की मौखिक परम्परा है। अतएव प्रान्तीय भेद आदि के कारण बहुत पाठभेद हो गए।

रामायण का मौलिक अंश

डा० विन्टरनित्स ने अपने पूर्ववर्ती प्रो० वेबर तथा याकोबी आदि आलोचकों के मतों का संग्रह करते हुए रामायण के मौलिक एवं प्रक्षिप्त अंशों की सारपूर्ण विवेचना की है। उन्होंने यह मन्तव्य उपस्थित किया है कि मूल रामायण में केवल कांड २ (अयोध्याकांड) से कांड ६ (युद्धकांड) तक ही थे। कांड १ (बालकांड) और कांड ७ (उत्तरकांड) परकालीन मिश्रण हैं। इसके लिए उन्होंने निम्नलिखित तर्क उपस्थित किए हैं :- (१) कांड १ और ७ की कथा का मूलकथा से सम्बन्ध नहीं है। मूलकथा कांड २ से प्रारम्भ होकर कांड ६ पर समाप्त हो जाती है। (२) भाषा और शैली की दृष्टि से कांड १ और ७ समकक्ष हैं, परन्तु मूल ग्रन्थ (कांड २ से ६) से इनकी भाषा आदि निम्न कोटि की है। (३) कांड १ और ७ की कथाएं मूल-ग्रन्थ की कथा से परस्पर विरुद्ध हैं। (४) कांड २ से ६ तक राम मर्यादा-पुरुषोत्तम और आदर्श पुरुष माने गए हैं, किन्तु कांड १ और ७ में उन्हें विष्णु का अवतार बताया गया है, जो कि बाद की कल्पना है। (५) कांड १ और ७ में पुनरुक्ति दोष तथा मूल ग्रन्थ से विरोधी घटनाएं वर्णित हैं। यथा - (क) कांड १ में लक्ष्मण विवाहित हैं, अरण्यकांड में उन्हें अविवाहित बताया है। (ख) कांड ६ में सुग्रीव, विभीषण आदि के प्रस्थान का वर्णन है, किन्तु उत्तरकांड में पुनः इनके प्रस्थान का उल्लेख है। (ग) उत्तरकांड (सर्ग १७) में सीता को पूर्व-जन्म में 'वेदवती' बताया है, परन्तु अन्यत्र सीता-जन्म-प्रसंग में वेदवती का नामोल्लेख नहीं है। (घ) महाभारत के 'रामोपाख्यान' में तथा अन्य राम-काव्यों में उत्तरकांड की कथा का उल्लेख नहीं है। (ङ) उत्तरकांड में बहुत-सी रामकथा से असंबद्ध कथाएं वर्णित हैं। जैसे - राक्षसों की उत्पत्ति और इन्द्र-रावण युद्ध (सर्ग ४ से ३४), हनुमान का बाल्यकाल (सर्ग ३५), ययाति-नहुष (सर्ग ५८ से), इन्द्र द्वारा वृत्र-वध (सर्ग ८, ४ से ८१), सौदासी चरित (सर्ग ५६ से), पुरुरवा (सर्ग ८७-६०), शम्बूक की तपस्या और उसका वध (सर्ग ७३ से ८१), आदि (६) कांड २ से ६ तक भी कुछ अंश प्रक्षिप्त हैं, परन्तु ऐसे अंशों की संख्या कम है।

श्री वी० वरदाचार्य ने मूल ग्रन्थ और प्रक्षिप्त अंश के विषय में पर्याप्त विवेचन किया है और सारांश दिया है कि रामायण के सातों कांड मौलिक हैं, प्रायः सभी कथाएँ उचित स्थान पर हैं। कांड १ और ७ में कुछ अंश अवश्य प्रक्षिप्त हैं, अतएव टीकाकारों ने उन अंशों की टीका नहीं की है।

विन्टरनित्स आदि के मत की आलोचना · विन्टरनित्स आदि ने जो मन्तव्य उपस्थित किया है, वह आपाततः ठीक और परिपक्व प्रतीत होता है, परन्तु इस मन्तव्य में कुछ बड़ी त्रुटियाँ रह गई हैं, जो विचारणीय हैं।

(१) रामायण के चारों ही संस्करणों में ७ कांड हैं। किसी भी संस्करण में कांड १ और ७ को छोड़ा नहीं गया है। यदि उपर्युक्त मन्तव्य में थोड़ी भी सत्यता होती तो संस्कृत-टीकाकारों के तुल्य कोई न कोई संस्करण इन दोनों कांडों को अवश्य छोड़ देता। (२) बालकांड का मूल कथा से साक्षात् सम्बन्ध है। इसमें इक्ष्वाकु वंश का वर्णन, दशरथ की सन्तान हीनता, पुत्रेष्टि यज्ञ, चार पुत्रों का जन्म, बाल-चरित, ताडका-वध, सीता-जन्म, सीता-स्वयंवर, राम-विवाह आदि प्रसंग रामायण के अविभाज्य अंग हैं। अतः समस्त बालकांड को प्रक्षेप कहना असंगत है। (३) उत्तरकांड में सीता-निर्वासन, वाल्मीकि के आश्रम में सीता का निवास, लव-कुश-जन्म, अश्वमेध यज्ञ, लव-कुश द्वारा घोड़े को पकड़ना, राम का सीता-दर्शन, सीता की अग्नि-परीक्षा, सीता का भूमि में विलय आदि राम कथा के मौलिक अंश हैं। (४) भाषा और शैली की दृष्टि से बाल कांड और उत्तरकांड को इन दो कोटि का कहना बहुत अंश तक हास्यास्पद है। किसी भी आलोचक ने अपने कथन की पुष्टि में सुसंगत प्रमाण नहीं दिए हैं। (५) राम के अवतार को लेकर कांड १ और ७ को प्रक्षिप्त कहना भी अनुचित है। वस्तुतः पूरी रामायण में राम कहीं भी अवतार नहीं हैं। वे लोक-नायक और आदर्श पुरुष हैं। अवतारवाद के विकास के साथ रामायण में ये अंश बाद में जोड़े गए हैं। (६) वस्तुतः तथाकथित मूल ग्रन्थ (कांड २ से ६) में भी पर्याप्त प्रक्षिप्त अंश मिलते हैं। (७) कांड १ और ७ में पुनरुक्ति एवं असंगति के जो उदाहरण मुख्यतया दिए जाते हैं, उनके विषय में संक्षेप में निम्नलिखित वक्तव्य हैं :-

(क) लक्ष्मण का वस्तुतः विवाह उर्मिला से हुआ था। उन्हें 'अकृतदारः' कहने वाला अरण्यकांड का अंश ही प्रक्षिप्त है अथवा यह भी संभव है कि शूर्पणखा से विनोदार्थ, लक्ष्मण को 'अकृतदारः' कहकर उसकी उत्सुकता बढ़ाई गई हो। (ख) राम के राज्याभिषेक के बाद सुग्रीव आदि का प्रस्थान हो जाता है। उत्तरकांड में अनावश्यक रूप से सुग्रीव आदि का प्रस्थान दिखलाया गया है, जो प्रक्षिप्त अंश है। (ग) कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि सीता-जन्म का प्रसंग आने पर सर्वत्र 'वेदवती' का प्रकरण सुनाया जाए। (घ) महाभारत में राम-कथा संक्षिप्त रूप में है। उसमें राम-कथा सांगोपांग वर्णित नहीं है। अतएव राम-राज्याभिषेक के साथ कथा समाप्त कर दी जाती है। काव्यों, नाटकों आदि में उत्तरकांड की कथा न होना सार्थक युक्ति है। कालिदास के रघुवंश, भवभूति के उत्तररामचरित, दिङ्नाग की कुन्दमाला, बौद्ध एवं जैन कथा-ग्रन्थों में सीता-परित्याग आदि का वर्णन विस्तृत रूप में प्राप्त होता है। (ङ) राम-कथा से असंबद्ध कथानक वस्तुतः प्रक्षिप्त अंश हैं। इस विषय में यह स्पष्टीकरण उचित प्रतीत होता है कि वस्तुतः कांड १ और ७ में पर्याप्त अंश प्रक्षिप्त हैं। इसका कारण यह है कि लोकप्रियता के लिए देवी-देवता, ऋषि-मुनि आदि से संबद्ध रोचक प्रसंग ग्रन्थ को आकर्षक बनाने के लिए जोड़े गए हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि रामायण के टीकाकारों ने भी ऐसे अंशों को प्रक्षिप्त मानकर उनकी टीका नहीं की है।

(८) प्रसिद्ध समालोचक आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में सीता-परित्याग तक की कथा को मूल रामायण की कथा माना है।

रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः। निर्व्यूढश्च स रामसीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धगुपरचयतः।
(ध्वन्यालोक, अध्याय ४)

रामायण का समय

रामायण के रचना निर्धारण में कुछ मौलिक कठिनाइयाँ हैं। जिससे आज तक यह पुष्ट रूप में नहीं कहा जा सका है कि रामायण की रचना कब हुई थी ? नीचे जितने मत प्रस्तुत किए जा रहे हैं, वे अधिकांशतः अनुमान पर निर्भर हैं और वे पूर्व-सीमा न बताकर अपर-सीमा का संकेत करते हैं। संक्षेप में प्रमुख कठिनाइयाँ ये हैं :

(१) रामायण में रचना-काल का अनिर्देश।

(२) पाश्चात्त्य विद्वानों द्वारा राम की ऐतिहासिकता पर सन्देह।

(३) पुष्ट अन्तरंग और बाह्य प्रमाणों का अभाव।

(४) रामायण वैदिक-काल के बाद की रचना है। परन्तु वैदिक-काल स्वयं अनिर्धारित है। वैदिक साहित्य के रचना-काल के विषय में सैकड़ों नहीं, सहस्रों और लाखों वर्षों तक का मतभेद है।

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय पर पर्याप्त विचार-विमर्श किया है और सैकड़ों निबन्ध प्रस्तुत किए हैं। उनका निष्कर्ष निम्नलिखित है :-

(१) वरदाचार्य- राम त्रेतायुग में हुए। त्रेतायुग ईसा से ८ लाख ६७ हजार १ सौ वर्ष पूर्व समाप्त हुआ था। वाल्मीकि राम के समकालीन थे। अतः रामायण की रचना का समय पूर्वोक्त है।

(२) गोरेसियो - ७२०० ई० पू०।

(३) श्लेगेल - ५१०० ई० पू०।

(४) याकोबी - ८०० ई० पू० से ५०० ई० पू०।

(५) कामिल बुल्के - ६०० ई० पू०।

(६) मैकडानल - ५०० ई० पू० संशोधन २०० ई० पू०।

(७) काशीप्रसाद जायसवाल - ५०० ई० पू०, संशोधन २०० ई० पू०।

(८) जयचन्द विद्यालंकार - ५०० ई०पू०, संशोधन २०० ई० पू०।

(९) विन्टरनित्स - ३०० ई० पू०।

उपर्युक्त विवेचन में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान दिया गया है :

(क) रामायण में बुद्ध का उल्लेख न होना तथा बौद्ध-धर्म के प्रभाव का अभाव, (ख) वैदिक-काल का परवर्ती होना, (ग) कोसल की राजधानी अयोध्या, न कि साकेत, (घ) पाटलिपुत्र का उल्लेख न होना, (ङ) श्रावस्ती का राजधानी न होना, (च) विशाला और मिथिला का स्वतन्त्र राज्य के रूप में उल्लेख, (छ) यूनानी प्रभाव का अभाव, (ज) मूल रामायण में राम को अवतार न मानना, (झ) ५०० ई० पू० की संस्कृति और सभ्यता से साम्य।

संक्षेप में इन विषयों का प्रतिपादन इस प्रकार है :-

(१) रामायण में बुद्ध एवं बौद्ध धर्म का अभाव - मूल रामायण में बौद्ध धर्म का प्रभाव सर्वथा अदृश्य है। एक स्थान पर बुद्ध का नाम आया है और उन्हें चोर एवं नास्तिक कहा गया है। सभी विद्वान् इसे प्रक्षिप्त मानते हैं। यह श्लोक बुद्ध और बौद्ध-धर्म की निन्दा के लिए बाद में जोड़ा गया है। विन्टरनित्स भी रामायण में बौद्ध-धर्म के प्रभाव का सर्वथा अभाव मानते हैं।

Whether traces of Buddhism can be proved in the Ramayana, it can probably be answered with an absolute negative.

उपर्युक्त बुद्ध-विषयक श्लोक सभी प्रतियों में नहीं पाया जाता है। अतः मूल-रामायण बुद्ध (जन्म ५६३ ई० पू०, निर्वाण ४८३ ई० पू०) से पूर्ववर्ती है।

(२) रामायण और महाभारत वैदिक साहित्य के बाद की रचनाएँ हैं, अतः इनकी पूर्व सीमा वैदिक-काल की समाप्ति है।

(३) रामायण में कोसल राज्य की राजधानी अयोध्या है। बौद्ध और जैन ग्रन्थों में अयोध्या को 'साकेत' नाम से उल्लेख है। अतः रामायण का रचनाकाल महावीर और बुद्ध से पूर्ववर्ती है।

(४) रामायण (बालकाण्ड, सर्ग ३१) में उल्लेख है कि राम गंगा और सोन के संगम के पास से जाते हैं, परन्तु दोनों के संगम पर स्थित वर्तमान पाटलिपुत्र (पटना) का उल्लेख नहीं है। बिम्बिसार के पुत्र अजातशत्रु (ई० पू० ४९१ से ४५६ तक) ने 'पाटलि' नामक ग्राम के चारों ओर सुरक्षार्थ एक प्राचीर (चहारदीवारी) बनवाया था। वही ग्राम बाद में पाटलिपुत्र नगर हुआ। अतः रामायण की रचना ५०० ई० पू० से पहले माननी चाहिए।

(५) श्रावस्ती - राम के पुत्र लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में बनाई थी। बुद्धकालीन राजा प्रसेनजित् की राजधानी 'श्रावस्ती' थी। रामायण में कोसल की राजधानी अयोध्या ही है। अतः रामायण का बुद्ध से पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है।

(६) विशाला और मिथिला - बुद्ध से पहले विशाल और मिथिला स्वतन्त्र राज्य थे। बुद्ध के समय में दोनों एक होकर वैशाली राज्य हो गए थे। अंगुत्तर-निकाय में १६ महाराज्यों में वैशाली का उल्लेख पूँजी या पुंजी नाम से है। रामायण में वैशाली का उल्लेख न होकर विशाला और मिथिला का पृथक् उल्लेख है। वैशाली के राजा 'सुमति' हैं और मिथिला के 'सीरध्वज जनक'। इससे सिद्ध होता है कि रामायण की रचना बुद्ध-पूर्व काल में हुई थी।

(७) यूनानी प्रभाव - रामायण में केवल २ स्थानों पर यवन शब्द का प्रयोग है, जिसको आधार पर डा० वेबर ने रामायण पर यूनानी सभ्यता का प्रभाव सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। डा० याकोबी और डा० विन्टरनित्स ने उपर्युक्त दोनों स्थानों को प्रक्षिप्त माना है और रामायण पर यूनानी प्रभाव का खण्डन किया है। अतः रामायण को सिकन्दर यूनानियों के भारत में आगमन (३२६ ई० पू०) से बहुत पूर्व मानना चाहिए।

(८) राम का अवतार - मूल रामायण में राम को अवतार नहीं माना गया है। अवतार की भावना का उदय बुद्ध के बाद हुआ है। इतिहास साक्षी है कि बुद्ध की प्रतिमाओं से ही प्रतिमा-पूजन का विकास हुआ। फारसी का 'बुत' (मूर्तिवाचक शब्द 'बुद्ध' शब्द का ही अपभ्रंश है, जो स्पष्ट रूप से सूचित करता है कि मूर्ति-पूजा का सम्बन्ध बुद्ध (बुद्ध मूर्ति-पूजा से रहा है। महाभाष्यकार पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने इसका इतिहास देते हुए बताया है कि मौर्य राजाओं ने राजकीय आय बढ़ाने के लिए मूर्ति-पूजा की योजना प्रचलित की। सुन्दर मूर्तियों की नक्काशी आदि की योजना भी उन्हीं की देन है। इससे सिद्ध होता है कि मूल रामायण बुद्ध के जन्म से पूर्व लिखी गई थी।

(९) रामायण का अधिकांश चित्रण, विशेषकर इसका सामाजिक चित्र, पूर्वी शताब्दी ई० पू० का है। इसमें इस पूर्वी शताब्दी ई० पू० के भारतीय समाज के आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक जीवन का अच्छा चित्र मिलता है।

(१०) विन्टरनित्स ने यह सिद्ध किया है कि वर्तमान परिवर्धित रामायण प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० में इस रूप में आ चुकी थी।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मूल रामायण ६०० ई० पू० के बाद की रचना नहीं है। इससे पूर्व इसकी रचना मानने में प्रमाणों की उपलब्धि पर निर्भर है। वर्तमान २४ सहस्र श्लोकों वाली रामायण प्रथम या द्वितीय शताब्दी ई० पू० में निश्चित रूप से इस रूप में आ चुकी थी।

डा० वेबर ने वैदिक-साहित्य में प्राप्त सीता (हल की फाल) शब्द का राम (कृषक) या बलराम (हलधर, या हलधर राम से सम्बन्ध जोड़कर राम-कथा का विकास माना है। यह असंगत एवं क्लिष्ट कल्पना है। इसके विषय में इतना कहना पर्याप्त है - 'कहाँ की ईंट कहाँ का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा'।

डा० वेबर ने एक और मन्तव्य प्रस्तुत किया था कि रामायण बौद्ध-ग्रन्थ 'दशरथ-जातक' एवं होमर के ग्रन्थ पर आश्रित है, परन्तु भोनेपर विलियम्स, याकोबी, मैक्डानल एवं के० टी० तैलंग आदि सभी भारतीय एवं भारतीय विद्वानों ने इस मत को अनुपयुक्त बताया है। वस्तुतः 'दशरथ-जातक' ही रामायण पर निर्भर है। इस जातक का उद्देश्य है - मृत्यु पर दुःख न करना। दशरथ की मृत्यु पर राम दुःखित नहीं होते हैं। अतएव रामायण की इतनी कथा देकर यह जातक समाप्त हो जाता है। अतः विद्वानों ने ही होमर के आधार पर रामायण की रचना को असंगत बताया है।

आदि-कवि बाल्मीकि

स नः पुनातु वाल्मीकिः सूक्तामृतमहोदधिः।
औंकार इव वर्णानां कवीनां प्रथमो मुनिः।।

(रामायण मञ्जरी)

महर्षि बाल्मीकि को ब्रह्मा ने 'आद्यः कविरसि' (आदि कवि हो) कहकर संबोधित किया था। आज भी वही परम्परा यथामूल है। बाल्मीकि को संस्कृत साहित्य का आदि-कवि कहना अत्यन्त सार्थक है। इसके पीछे एक इतिहास छिपा हुआ है। बाल्मीकि से पूर्व गाथात्मक रचनाएँ हुई थीं और हो रही थीं। परन्तु उनका उद्देश्य देवस्तुति, धर्म-भावना, देवार्चन या उपासना आदि ही था। बाल्मीकि ही वह प्रथम क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील कवि थे, जिन्होंने जन-भावना को समझा, सोचा और उस पर मनन किया। वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब तक की कविता केवल ज्ञान-प्रधान है और इसका जन-जीवन से साक्षात् कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचारधारा उनकी मस्तिष्क में विद्युत् की भाँति दौड़ गई और उन्होंने एक क्रान्तिकारी कदम उठाने का दृढ़ निश्चय किया। संयोगवश उन्होंने तमसा नदी के तट पर व्याध द्वारा तट पर क्रौंच पक्षी को देखा और उनके मुख से यह श्लोक निकल पड़ा।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।। (वा० रा० बालः)

यही उनके काव्य का प्रथम सूत्रपात था। उन्हें पुनः चिन्ता प्रारम्भ हुई कि नायक किसको बनाया जाए। उनका लक्ष्य था कि मेरा काव्य अमर हो ; जन-जीवन से साक्षात् संबंध हो ; चतुर्वर्ग की प्राप्ति का साधन हो ; भाव, भाषा, छन्द, अलंकार

आदि की दृष्टि से नवीनतम हो ; लोक-मनोरंजन के साथ ही लोक-परलोक दोनों का साधक हो। इन सभी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए मर्यादा-पुरुषोत्तम राम के अतिरिक्त और कोई नायक उन्हें न जंचा। नायक के निर्णय के साथ ही उनकी काव्य-निर्झरिणी प्रवाहित हो गई और गायत्री के पावनत्व को सुरक्षित रखने के लिए २४ सहस्र श्लोकों की मुक्तामयी माला गूंथी गई, जो आज भी पावनी त्रिपथगा के सदृश जन-मानस के पाप-सन्ताप को संध्वस्त कर रही है इससे ही लौकिक-काव्य-परम्परा प्रादुर्भूत हुई, जो प्रतिदिन पुष्पित एवं पल्लवित होती हुई आज विशाल साहित्य के रूप में समृद्ध है। इस क्रान्तिकारी, नवीन-धारा के प्रवर्तन के कारण वाल्मीकि को आदि-कवि कहा गया।

आदि-काव्य रामायण - आदि-कवि वाल्मीकि की कृति वाल्मीकीय रामायण आदि-काव्य हुआ। वस्तुतः यह लौकिक काव्य-माला का प्रथम गुच्छ है। इसकी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ऐतिहासिक महाकाव्य, महाकाव्य एवं वीर-काव्य के सभी गुण समन्वित हैं। एक ओर भाषा का लालित्य है तो दूसरी ओर भावों की मनोहर छटा। एक ओर रस-परिपाक अद्वितीय है तो दूसरी ओर अलंकारों का रसतरंगी आकर्षण। एक ओर नायक की उदात्तता है तो दूसरी ओर नैतिकता का परमोत्कर्ष। एक ओर अन्तः प्रकृति का मनोज्ञ संगुम्फन है तो दूसरी ओर बाह्य-प्रकृति का सजीव चित्रण। वाल्मीकि की सशक्त लेखनी से प्रादुर्भूत यह काव्य न केवल महाकाव्य ही बना, अपितु ऐतिहासिक महाकाव्य, वीर-काव्य और आदर्श धर्मग्रन्थ बन गया।

रामायण की शैली

वाल्मीकि की शैली को वैदर्भ शैली कह सकते हैं। इसमें भाव-भाषा का समन्वय, सरलता, सुबोधता आदि सभी गुण संन्निहित हैं। इसमें शैली के तीनों गुण प्रसाद, ओज और माधुर्य हैं।

(१) भाषा - रामायण की भाषा सुन्दर, सरल, ललित, प्रांजल एवं परिष्कृत है। वाल्मीकि का भाषा पर असाधारण अधिकार है। वे प्रसंग एवं भावों के अनुरूप शब्दावली का प्रयोग करते हैं। प्राचीन होने पर भी कालिदास आदि की भाषा के तुल्य प्रौढता एवं परिष्कार परिलक्षित होता है। यथा - समुखी नायिकावत् शरत्कालीन रात्रि की शोभा का वर्णन :-

रात्रिः शशांकोदितरश्मिमयवक्त्रा, तारागणोन्मीलितचारुनेत्रा।
ज्योत्स्नांशुकप्रावरणा विभाति, नारीव शुक्लांशुकसंवृताऽङ्गी।। (किष्किन्धा० सर्ग ३०)

(२) रस - रामायण में प्रायः सभी रस प्राप्त होते हैं। करुण, श्रृंगार और वीर इनमें मुख्य हैं। करुण रस अंडी है, अन्य रस अंग। श्रृंगार के दोनों पक्षों - संभोग और विप्रलंभ - का वर्णन प्राप्त होता है। अनेक प्रसंगों में, मुख्यतः युद्धकांड में, वीर रस ही प्रमुख है। सीता-वियोग-वर्जन में विप्रलंभ श्रृंगार का सुन्दर एवं सजीव चित्रण है। सीता-परित्याग के बाद राम की दयनीय मानसिक स्थिति के वर्णन में करुण रस की स्रोतस्विनी का अमन्द प्रवाह प्रसृत होता है। इस प्रकार रस-परिपाक के कारण वाल्मीकि को रस-सिद्ध कवीश्वर (रससिद्धा कवीश्वराः) कहा जाता है।

(३) छन्द - वाल्मीकि का प्रिय छन्द अनुष्टुप् है। अधिकांश श्लोक अनुष्टुप् छन्द में ही हैं। किन्तु स्थान-स्थान पर, मुख्यतः सर्ग के अन्त में, इन्द्रवज्रा, उपजाति आदि छन्द भी आए हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने रामायण की रचना श्लोकों अर्थात् केवल अनुष्टुप् छन्द में मानी है और श्लोक शब्द का अर्थ केवल अनुष्टुप् छन्द माना है। यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। संस्कृत में 'श्लोक' शब्द पद्यबद्ध किसी भी रचना के लिए है। यह अनुष्टुप् का भी पर्यायवाची है, जिसके कारण यह भ्रान्त धारणा हुई।

(४) अलंकार - वाल्मीकि ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तर-न्यास आदि अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है। ऋतु-वर्णनों में अलंकारों की छटा विशेष रूप से दर्शनीय है। यथा-बादलों में चमकती हुई बिजली की रावण से अपहृत छटपटाती हुई सीता से उपमा।

नीलमेघाश्रिता विद्युत् स्फुरन्ती प्रतिभाति मे।
स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी।। (रामा० ४-३८-१२)

वसन्त-वर्णन में वायु से खेलने की बहुत सुन्दर उत्प्रेक्षा एक गेंद के खिलाड़ी से की गई है। जिसकी गेंद कभी नीचे, कभी ऊपर और कभी बीच में होती है।

पतितैः पतमानैश्च पादपस्थैश्च मारुतः।
कुसुमैः पश्य सौमित्रे, क्रीडन्निव समन्ततः।। (रामा० ४-५-२३)

(५) प्रकृति-चित्रण - वाल्मीकि न केवल बाह्य प्रकृति के विशद चित्रण में असाधारण पटु हैं, अपितु अन्तः प्रकृति के निरूपण में भी सिद्धहस्त हैं। रामायण में प्रकृति-चित्रण के अनेक प्रसंग हैं। इसमें नगर, ग्राम आश्रम, उपवन, वन, पर्वत, नदी,

पम्पा सरोवर, सेना, युद्ध, ऋतु-वर्णन, चन्द्रोदय आदि के वर्णन अत्यन्त सरस, भावपूर्ण, सजीव एवं रोचक हैं। इस अयोध्याकांड में चित्रकूट-वर्णन, अरण्यकांड में वन, आश्रम, शरद् एवं हेमन्त ऋतु-वर्णन, किष्किन्धाकांड में पम्पा सरोवर तथा सुन्दरकांड में चन्द्रोदय वर्णन; युद्धकांड में सेना और युद्ध का वर्णन विशेष उल्लेखनीय है। चन्द्रोदय का एक अलंकृत वर्णन इस प्रकार है -

हंसो यथा राजतपञ्जररस्थः, सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वितकुंजरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राजः तथाऽम्बरस्थः।। (रामा० ५.५.४)

कवि ने सरोवर में सोता हुआ हंस आकाश में विराजमान चन्द्र प्रतीत होता है।

सुप्तैकहंसं कुमुदैरुपेतं, महाह्रदस्थं सलिलं बिभाति।
घनैर्विमुक्तं निशि पूर्णचन्द्रं, तारागणाकीर्णमिवान्तरिक्षम्।। (रामा० ४-३५-४८)

(६) अर्थगौरव - वाल्मीकि के अर्थान्तरन्यास और सुभाषित अत्यन्त हृद्य, भाव-प्रवण, सहृदय-संवेद्य एवं व्यंजना-गर्भ हैं। यथा -

(क) सुलभाः पुरुषा राजन्, सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य च पथ्यस्य, वक्ता श्रोता च दुर्लभः।। (रामा० ३.३७.२)

(ख) उत्साहसम्पन्नः पुरुषो नावसीदति कर्मसु।

(ग) कुलीनमकुलीनं वा, वीरं पुरुषमानिनम्।
चारित्रमेव व्याख्याति, शुचिं वा यदि वाऽशुचिम्।। (रामा० ३.३.२)

(घ) आत्मं छित्त्वा कुठारेण, निम्बं परिचरेत्तु कः। (सु ३५.७)

(ङ) न चरेणाहृतं भक्ष्यं, भुञ्जीयुः खादितुमिच्छति। (सु ३५.१७)

रामायण का सांस्कृतिक महत्त्व

रामायण न केवल काव्य, महाकाव्य या वीर-काव्य ही है। इसका इससे बहुत अधिक महत्त्व है। यह आर्यों का आचार-शास्त्र एवं धर्मशास्त्र है। यह मानव-जीवन का सर्वांगीण आदर्श प्रस्तुत करता है। यह धार्मिक दृष्टि से प्राचीन संस्कृति, आचार, सत्य, धर्म, शील-पालन, विविध यज्ञों का महत्व आदि का पुरा इतिहास प्रस्तुत करता है। सामाजिक दृष्टि से यह पति पत्नी के सम्बन्ध, पिता पुत्र के कर्तव्य, गुरु शिष्य का पारस्परिक व्यवहार, भाई का भाई के प्रति कर्तव्य, व्यक्ति के समाज के प्रति उत्तरदायित्व, आदर्श पिता-माता-पुत्र-भाई-पति एवं पत्नी का चित्रण, आदर्श गृहस्थ-जीवन की अभिव्यक्ति करता है। इसमें पितृ-भक्ति, पुत्र-प्रेम, भ्रातृ-स्नेह एवं जन-साधारण के सौहार्द का सुन्दर चित्रण है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह राम-राज्य का आदर्श, पाप पर पुण्य की विजय, लोभ पर त्याग का प्राबल्य, अत्याचार और अनाचार पर सदाचार की विजय, वानरों में आर्य-संस्कृति का प्रसार, यज्ञादि का महत्व, जीवन में नैतिकता, सत्य-प्रतिज्ञता और कर्तव्य के लिए बलिदान का आदर्श प्रस्तुत करता है। राजनीतिक दृष्टि से यह राजा के कर्तव्य और अधिकार, राजा-प्रजा-सम्बन्ध, उच्च सामाजिक उत्तराधिकार विधान, शत्रु संहार, पाप विनाशक, सैन्य संचालन आदि विषयों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। रामायण भारतीय सभ्यता, नगर आयोजि-निर्माण, सेतुबन्ध, वर्णाश्रम-व्यवस्था आदि सांस्कृतिक एवं सामाजिक विषयों पर प्रकाश डालने वाला प्रकाश-स्तम्भ है, जिसके प्रकाश में प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का साक्षात् दर्शन होता है।

रामायण का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

रामायण एवं राम-कथा ने भारतीय जन-जीवन को इतना प्रभावित किया है कि जातीय में गौरव-प्राप्ति के लिए मूल राम-कथा या उससे संबद्ध कथानक का आश्रय लेना आवश्यक सा हो गया था। वाल्मीकि की प्रौढ़-शैली एवं राम-कथा का सम्मन्वय मणि-कांचन-संयोग हो गया था। अतः परवर्ती कवियों, नाटककारों और चम्पूकारों ने रामायण को अपना आदर्श काव्य माना है तथा अपने दृष्टिकोण से संबद्ध अंशों का संकलन किया है। अनेक रामायण ग्रन्थ, महाकाव्य, काव्य, नाटक और चम्पू रामायण पर आश्रित हैं। अतएव कहा गया है -

(क) न ह्यन्योऽर्हति काव्यानां यशोभाग् रामवद् ऋते (आन० उत्त० ६/१५)

(ख) मधुमयभणितीनां मार्गदर्शी महर्षिः (रामायणचम्पू १/८)

रामायण पर आश्रित कतिपय रामायण ग्रन्थों की रचना हुई; जिनमें प्रमुख ये हैं : अध्यात्मरामायण (१४वीं-१५वीं शताब्दी ई०, संभावित रचयिता रामानन्द), अद्भुत-रामायण, अगस्त्य रामायण आदि। रामायण पर ही आश्रित बौद्धों का ग्रन्थ 'दशरथ जातक' तथा जैन-ग्रन्थ 'पउमचरित्र' (६२ ई० रचयिता - जैन-कवि विमलसूरि) हैं।

रामायण पर आश्रित प्रमुख काव्य, नाटक, चम्पू :- (१) काव्यग्रन्थ :- कालिदास-कृत रघुवंश, प्रवरसेन-कृत सेतुबन्ध, कुमारदास-कृत जानकी-हरण, भट्टिकृत भट्टिकाव्य (रावणवध), क्षेमेन्द्रकृत रामायण-मंजरी, वामनभट्ट बाणकृत रघुनाथाभ्युदय। (२) नाटक ग्रन्थ :- भासकृत अभिषेक और प्रतिमा नाटक, दिङ्नागकृत कुन्दमाला, भवभूति कृत महावीर चरित और उत्तर रामचरित, मुरारिकृत अनर्घराघव, राजशेखर-कृत महावीर चरित और बाल-रामायण, राजशेखर कृत बाल-रामायण, हनुमान्-कृत महानाटक, जगदेव-कृत प्रसन्नराघव। (३) चम्पू-ग्रन्थ - भोज-कृत रामायण-चम्पू, वेंकटाध्वरि-कृत उत्तर-चम्पू।

एकक 1 (ii)

श्रीमद्भगवद् गीता

द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।

सञ्जय बोले - उस प्रकार करुणासे व्याप्त और आँसुओं से पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रों वाले शोकयुक्त उस अर्जुन के प्रति भगवान् मधुसूदन ने यह वचन कहा। १।।

श्रीभगवानुवाच
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।। २ ।।

श्रीभगवान् बोले - हे अर्जुन ! तुझे इस असमय में यह मोह किस हेतु से प्राप्त हुआ ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देने वाला है और न कीर्ति को करने वाला ही है।। २।।

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।

इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकता को मत प्राप्त हो, तुझमें यह उचित नहीं जान पड़ती। हे परंतप ! हृदय की तुच्छ दुर्बलता को त्यागकर युद्ध के लिये खड़ा हो जा।। ३।

अर्जुन उवाच
कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।

अर्जुन बोले - हे मधुसूदन ! मैं रणभूमि में किस प्रकार बाणों से भीष्म पितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लड़ूँगा ? क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं। ४।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावा।
श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थ कामांस्तु गुरूनिहैव।
भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।

इसलिये इन महानुभाव गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोक में भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याण कारक समझता हूँ क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में रुधिर से सने हुए अर्थ और कामरूप भोगों को ही तो भोगूँगा। ५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।

हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना - इन दोनों में से कौन-सा श्रेष्ठ है, अथवा यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे हमारे आत्मीय धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे मुकाबले में खड़े हैं।। ६।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।

इसलिये कायरता रूप दोष से उपहत हुए स्वभाव वाला तथा धर्म के विषय में मोहित चित्त हुआ मैं आपसे पूछता हूँ कि जो साधन निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये; क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मुझको शिक्षा दीजिये।। ७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।। ८।।

क्योंकि भूमि में निष्कण्टक धन-धान्य सम्पन्न राज्य को और देवताओं को प्राप्त होकर भी मैं उस उपाय को नहीं देखता हूँ, जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर सके।। ८।।

सञ्जय उवाच

एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।

संजय बोले - हे राजन्! निद्रा को जीतने वाले अर्जुन अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज के प्रति इस प्रकार कहकर फिर श्रीगोविन्द भगवान् से 'युद्ध नहीं करूँगा' यह स्पष्ट कहकर चुप हो गये।। ९।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।

हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! अन्तर्यामी श्रीकृष्ण महाराज दोनों सेनाओं के बीच में शोक करते हुए उस अर्जुन को हँसते हुए-से यह वचन बोले।। १०।।

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।

श्रीभगवान् बोले, हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्य मनुष्यों के लिये शोक करता है और पण्डितों के से वचनों को कहता है, परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं, उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी पण्डितजन शोक नहीं करते।। ११।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।

न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, तू नहीं था अथवा ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि इससे आगे हम सब नहीं रहेंगे।। १२।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।

जैसे जीवात्मा की इस देह में बालकपन, जवानी और वृद्धावस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीर की प्राप्ति होती है; उस विषय में धीर पुरुष मोहित नहीं होता।। १३।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।

हे कुन्ती पुत्र! सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख को देने वाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं; इसलिये हे भारत! उन को तू सहन कर।। १४।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।

क्योंकि हे पुरुष श्रेष्ठ! दुःख सुख को समान समझने वाले जिस धीर पुरुष को ये इन्द्रिय और विषयों के संयोग व्याकुल नहीं करते, वह मोक्ष के योग्य होता है।। १५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

असत् वस्तु की तो सत्ता नहीं है और सत् का अभाव नहीं है; इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व तत्त्वज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है।। १६।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।

नाश रहित तो तू उसको जान जिससे यह सम्पूर्ण जगत्दृश्यवर्ग व्याप्त है। इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।। १७।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।

इस नाश रहित, अप्रमेय, नित्यस्वरूप जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं। इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।। १८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते; क्योंकि यह आत्मा वास्तव में न तो किसी को मारता है और न किसी के द्वारा मारा जाता है।। १९।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

यह आत्मा किसी काल में भी न तो जन्मता है और न मरता ही है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मारा जाता।। २०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।

हे पृथापुत्र अर्जुन! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा और अव्यय जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है?।। २१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।

जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नये शरीरों को प्राप्त होता है।। २२।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।

इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, इसको आग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता और वायु नहीं सुखा सकता।। २३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।

क्योंकि यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और निःसन्देह अशोष्य है तथा यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है।। २४।।

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।

यह आत्मा अव्यक्त है, यह आत्मा अचिन्त्य है और यह आत्मा विकार रहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्मा को उपर्युक्त प्रकार से जानकर तू शोक करने को योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।। २५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।

किन्तु यदि तू इस आत्मा को सदा जन्मने वाला तथा सदा मरने वाला मानता हो, तो भी हे महाबाहो! तू इस प्रकार शोक करने को योग्य नहीं है।। २६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।

क्योंकि इस मान्यता के अनुसार जन्मे हुए की मृत्यु निश्चित है और मरे हुए का जन्म निश्चित है। इससे भी इस बिना उपाय वाले विषय में तू शोक करने को योग्य नहीं है।। २७।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।

हे अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे और मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं, केवल बीच में ही प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना है?।। २८।।

आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेन माश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।

कोई एक महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भांति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्व का आश्चर्य की भांति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भांति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जानता।। २९।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।

हे अर्जुन! यह आत्मा सबके शरीरों में सदा ही अवध्य है। इस कारण सम्पूर्ण प्राणियों के लिये तू शोक करने के योग्य नहीं है।। ३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।

तथा अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने योग्य नहीं है अर्थात् तुझे भय नहीं करना चाहिये; क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारी कर्तव्य नहीं है।। ३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।

हे पार्थ! अपने-आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान् क्षत्रियलोग ही पाते हैं।। ३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।

किंतु यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्ति को खोकर पाप को प्राप्त होगा।। ३३।।

अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।

तथा सब लोग तेरी बहुत काल तक रहने वाली अपकीर्ति का भी कथन करेंगे और माननीय पुरुष के लिये अपकीर्ति मरण से भी बढ़कर है।। ३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।

और जिनकी दृष्टि में तू पहले बहुत सम्मानित होकर अब लघुता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से हटा हुआ मानेंगे।। ३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।

तेरे वैरी लोग तेरे सामर्थ्य की निन्दा करते हुए तुझे बहुत-से न कहने योग्य वचन भी कहेंगे; उससे अधिक दुःख और क्या होगा?।। ३६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।

या तो तू युद्ध में मारा जाकर स्वर्ग को प्राप्त होगा अथवा संग्राम में जीतकर पृथ्वी का राज्य भोगेगा। इस कारण हे अर्जुन ! तू युद्ध के लिये निश्चय करके खड़ा हो जा।। ३७।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।

जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख को समान समझकर, उसके बाद युद्ध के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा।। ३८।।

एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।

हे पार्थ ! यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञान योग के विषय में कही गयी और अब तू इसको कर्म योग के विषय में सुन - जिस बुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मों के बन्धन को भली-भांति त्याग देगा अर्थात् नष्ट कर डालेगा।। ३९।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

इस कर्मयोग में आरम्भ का अर्थात् बीज का नाश नहीं है और उलटा फलरूप दोष भी नहीं है, बल्कि इस कर्म योग रूप धर्म का थोड़ा सा भी साधन जन्म-मृत्यु रूप महान् भय से रक्षा कर लेता है।। ४०।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्तश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

हे अर्जुन ! इस कर्मयोग में निश्चयात्मिका बुद्धि एक ही होती है; किन्तु अस्थिर विचार वाले विवेक हीन सकाम मनुष्यों की बुद्धियाँ निश्चय ही बहुत भेदों वाली और अनन्त होती हैं।। ४१।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।

हे अर्जुन ! जो भोगों में तन्मय हो रहे हैं, जो कर्म फल के प्रशंसक वेद वाक्यों में ही प्रीति रखते हैं, जिनकी बुद्धि में स्वर्ग ही परम प्राप्य वस्तु है और जो स्वर्ग से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है - ऐसा कहने वाले हैं, वे अविवेकीजन इस प्रकार की जिस पुष्पित अर्थात् दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहा करते हैं जो कि जन्म रूप कर्म फल देने वाली एवं भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार की बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करने वाली है, उस वाणी द्वारा जिनका चित्त हर लिया गया है, जो भोग और ऐश्वर्य में अत्यन्त आसक्त हैं, उन पुरुषों की परमात्मा में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती।। ४२-४४।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।

हे अर्जुन ! वेद उपर्युक्त प्रकार से तीनों गुणों के कार्य रूप समस्त भोगों एवं उनके साधनों का प्रतिपादन करने वाले हैं; इसलिये तू उन भोगों एवं उनके साधनों में आसक्ति हीन, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वों से रहित, नित्य वस्तु परमात्मा में स्थित योगक्षेम को न चाहने वाला और स्वाधीन अन्तः करण वाला हो।। ४५।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

सब ओर से परिपूर्ण जलाशय के प्राप्त हो जाने पर छोटे जलाशय में मनुष्य का जितना प्रयोजन रहता है, ब्रह्म को तत्त्व से जानने वाले ब्राह्मण का समस्त वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है।। ४६।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।

तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं। इसलिये तू कर्मों के फल का हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।। ४७।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

हे धनंजय! तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्य कर्मों को कर, समत्व ही योग कहलाता है।। ४८।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।

इस समत्व रूप बुद्धि योग से सकाम कर्म अत्यन्त ही निम्न श्रेणी का है। इसलिये हे धनंजय! तू सम बुद्धि में ही रक्षा का उपाय ढूँढ अर्थात् बुद्धि योग का ही आश्रय ग्रहण कर, क्योंकि फल के हेतु बनने वाले अत्यन्त दीन हैं।। ४९।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।

समबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को इसी लोक में त्याग देता है अर्थात् उनसे मुक्त हो जाता है। इससे तू समत्व रूप योग में लग जा; यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है अर्थात् कर्म बन्धन से छूटने का उपाय है।। ५०।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

क्योंकि समबुद्धि से युक्त ज्ञानी जन कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल को त्यागकर जन्म रूप बन्धन से मुक्त हो निर्विकार परम पद को प्राप्त हो जाते हैं।। ५१।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।

जिस काल में तेरी बुद्धि मोह रूप दल दल को भली भाँति पार कर जायेगी, उस समय तू सुने हुए और सुनने में आने वाले इस लोक और परलोक सम्बन्धी सभी भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो जाएगा।। ५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।

भाँति-भाँति के वचनों को सुनने से विचलित हुई तेरी बुद्धि जब परमात्मा में अचल और स्थिर ठहर जायेगी, तब तू योग को प्राप्त हो जायेगा अर्थात् तेरा परमात्मा से नित्य संयोग हो जायेगा।। ५३।।

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।

अर्जुन बोले - हे केशव! समाधि में स्थित परमात्मा को प्राप्त हुए स्थिर बुद्धि पुरुष का क्या लक्षण है? वह स्थिर बुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है और कैसे चलता है?।। ५४।।

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।

श्री भगवान् बोले - हे अर्जुन! जिस काल में यह पुरुष मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को भली भाँति त्याग देता है और आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है, उस काल में वह स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। ५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

दुःखों की प्राप्ति होने पर जिसके मन में उद्वेग नहीं होता, सुखों की प्राप्ति में जो सर्वथा निःस्पृह है तथा जिसके राग भय और क्रोध नष्ट हो गये हैं, ऐसा मुनि स्थिर बुद्धि कहा जाता है। ५६।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस-उस शुभ या अशुभ वस्तु को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।। ५७।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

और कछुवा सब ओर से अपने अंगों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों के विषयों से इन्द्रियों को सब प्रकार से हटा लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर है (ऐसा समझना चाहिये)।। ५८।।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

इन्द्रियों के द्वारा विषयों को ग्रहण न करने वाले पुरुष के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु उनमें रहने वाली आसक्ति निवृत्त नहीं होती। इस स्थित प्रज्ञ पुरुष की तो आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाती है।। ५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।

हे अर्जुन! आसक्ति का नाश न होने के कारण ये प्रमथन स्वभाव वाली इन्द्रियाँ यत्न करते हुए बुद्धिमान पुरुष के मन को भी बलात् हर लेती हैं।। ६०।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

इसलिये साधक को चाहिये कि वह उन सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके समाहितचित्त हुआ मेरे परायण होकर ध्यान में बैठे, क्योंकि जिस पुरुष की इन्द्रियाँ वश में होती हैं, उसी की बुद्धि स्थिर हो जाती है।। ६१।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।

विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और काम में विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है।। ६२।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।

क्रोध से अत्यन्त मूढ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाने से बुद्धि अर्थात् ज्ञान शक्ति का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने से यह पुरुष अपनी स्थिति से गिर जाता है।। ६३।।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।

परंतु अपने अधीन किये हुए अन्तः करण वाला साधक अपने वश में की हुई, राग-द्वेष से रहित इन्द्रियों द्वारा विषयों में विचरण करता हुआ अन्तः करण की प्रसन्नता को प्राप्त होता है।। ६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।

अन्तः करण की प्रसन्नता होने पर इसके सम्पूर्ण दुःखों का अभाव हो जाता है और उस प्रसन्नचित्त वाले कर्मयोगी की बुद्धि शीघ्र ही सब ओर से हटकर एक परमात्मा में ही भली भाँति स्थिर हो जाती है।। ६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।

न जीते हुए मन और इन्द्रियों वाले पुरुष में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती और उस अयुक्त मनुष्य के अन्तःकरण में भावना भी नहीं होती और भावना हीन मनुष्य को शान्ति नहीं मिलती और शान्ति रहित मनुष्य को सुख कैसे मिल सकता है।। ६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।

क्योंकि जैसे जल में चलने वाली नाव को वायु हर लेती है, वैसे ही विषयों में विचलती हुई इन्द्रियों में से मन जिस इन्द्रिय के साथ रहता है वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुष की बुद्धि को हर लेती है।। ६७।।

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

इसलिये हे महाबाहो ! जिस पुरुष की इन्द्रियाँ इन्द्रियों के विषयों से सब प्रकार निग्रह की हुई हैं, उसी की बुद्धि स्थिर है।। ६८।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।

सम्पूर्ण प्राणियों के लिये जो रात्रि के समान है, उस नित्य ज्ञानस्वरूप परमानन्द की प्राप्ति में स्थित प्रज्ञ योगी जागता है और जिस नाशवान् सांसारिक सुख की प्राप्ति में सब प्राणी जागते हैं, परमात्मा के तत्त्व को जानने वाले मुनि के लिये वह रात्रि के समान है।। ६९।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।

जैसे नाना नदियों के जल सब ओर से परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र में उसको विचलित न करते हुए ही समा जाते हैं वैसे ही सब भोग जिस स्थितप्रज्ञ पुरुष में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वही पुरुष परमशान्ति को प्राप्त होता है, भोगों को चाहने वाला नहीं।। ७०।।

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।

जो पुरुष सम्पूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममतारहित, अहंकार रहित और स्पृहा रहित हुआ विचरता है, वही शान्ति को प्राप्त होता है अर्थात् वह शान्ति को प्राप्त है।। ७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।

हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्त काल में भी इस ब्राही स्थिति में स्थिर होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है।। ७२।।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां
योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।। २।।

महाभारत

संक्षिप्त परिचय - भारतीय लौकिक साहित्य में रामायण के पश्चात् महाभारत का ही स्थान है। यह कथा दृष्टि अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह भारतीय साहित्य का आकर-ग्रन्थ है, जिसमें तत्कालीन सभी सांस्कृतिक, साहित्यिक आदि विषयों का समन्वय है। यह एक ओर सुसंगठित पाठ्यशास्त्र ग्रन्थ है तो दूसरी ओर आचार संहिता है। इसमें चतुर्वर्ग के सभी विषय धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, प्रतिपादित हैं। महाभारत के बृहत् संस्करण में लेखक की महत्वाकांक्षा रही है कि उस समय के उल्लेखनीय कोई भी विषय छूट न जाए। इस महत्वाकांक्षा की पूर्ति के कारण ही यह 'भारत' से 'महाभारत' हो गया। महाभारत में स्वयं इस तथ्य का उल्लेख है।

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र, यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।। (महा० आदि० ६२-५३)

महाभारत के प्रमुख रचयिता व्यास (वेदव्यास या कृष्ण द्वैपायन) हैं। इसमें १८ पर्वों में कौरव-पाण्डवों का इतिहास है जिसकी प्रमुख घटना महाभारत युद्ध है। १८ पर्वों के नाम क्रमशः ये हैं - (१) आदिपर्व, (२) सभा, (३) वन, (४) विराट, (५) उद्योग, (६) भीष्म, (७) द्रोण, (८) कर्ण, (९) शल्य, (१०) सौप्तिक, (११) स्त्री, (१२) शान्ति, (१३) अनुशासन, (१४) आश्वमेधिक, (१५) आश्रमवासिक, (१६) मौसल, (१७) महाप्रस्थानिक, (१८) स्वर्गारोहण।

महाभारत की संक्षिप्त कथा - १८ पर्वों में संक्षेप में मुख्य कथानक यह है :- (१) आदिपर्व - भरतवंश का इतिहास और कौरव-पाण्डवों की उत्पत्ति, (२) सभा पर्व - द्यूतक्रीडा, (३) वनपर्व - पाण्डवों का वनवास, (४) उद्योगपर्व - श्रीकृष्ण द्वारा सन्धि का प्रयत्न, (६) भीष्मपर्व - अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का प्रारम्भ, भीष्म का आहत होकर शरशय्या पर पड़ना, (७) द्रोणपर्व - अभिमन्यु और द्रोण का वध, (८) कर्णपर्व - कर्ण का युद्ध और वध, (९) शल्यपर्व - शल्य का युद्ध और वध, (१०) सौप्तिकपर्व - सोते हुए पाण्डवों के पुत्रों का अश्वत्थामा द्वारा वध, (११) स्त्रीपर्व - शोकाकुल स्त्रियों का विलाप, (१२) शान्तिपर्व - युधिष्ठिर को राजधर्म और मोक्ष-सम्बन्धी सैकड़ों प्रश्नों का भीष्म द्वारा उत्तर, (१३) आश्वमेधिक पर्व - युधिष्ठिर का अश्वमेध-अनुष्ठान, (१५) आश्रमवासिक पर्व - धृतराष्ट्र आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश, (१६) मौसलपर्व - यादवों का पारस्परिक संघर्ष से नाश, (१७) महाप्रस्थानिक पर्व - पाण्डवों की हिमालय-यात्रा, (१८) स्वर्गारोहण पर्व - पाण्डवों का स्वर्गारोहण।

महाभारत के संस्करण - इस समय महाभारत के ४ संस्करण मुख रूप से प्राप्य हैं। (१) कलकत्ता-संस्करण बम्बई-संस्करण, (३) मद्रास संस्करण, (४) पूना-संस्करण। कलकत्ता और बम्बई संस्करणों को देवनागरी-संस्करण भी कहा जाता है। पूना-संस्करण आलोचनात्मक संस्करण है और सबसे प्रामाणिक माना जाता है।

(१) कलकत्ता संस्करण - १८३४-३९ में प्रकाशित, इसमें हरिवंश नहीं भी सम्मिलित है। श्री प्रतापचन्द्र राय (१८८० ई०, कलकत्ता) ने इसका गुटका संस्करण प्रकाशित कराया था और इसकी १० हजार प्रतियाँ मुफ्त बँटवाई थीं। यही एक अनुकरणीय आदर्श था। (२) बम्बई संस्करण - १८६२ में नीलकण्ठी टीका के साथ प्रकाशित। कलकत्ता और बम्बई संस्करण में बहुत कम अन्तर है। (३) मद्रास संस्करण - १८५५-१८६० ई० में मद्रास से ४ भागों में प्रकाशित हुआ है। यह तेलुगु लिपि में है। इसमें नीलकण्ठी टीका और हरिवंश भी सम्मिलित है। (४) पूना संस्करण - यह डा० सुखटंकर के सम्पादकत्व में भण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से २४ बड़ी जिल्दों में प्रकाशित हुआ है। यह सबसे प्रामाणिक आलोचनात्मक संस्करण है। इसका मूल्य ६५० रु० है

महाभारत की प्रगति के तीन चरण

महाभारत के सूक्ष्म परीक्षण से ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण महाभारत एक व्यक्ति के हाथ की रचना नहीं है और न एक काल की रचना है। प्रारम्भ में यह कथा संक्षिप्त थी। इसमें बाद में परिवर्तन और परिवर्धन होता रहा है। पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार इसकी प्रगति के तीन चरण माने जाते हैं। भारतीय विद्वान् भी प्रायः इस मत को मानते हैं। महाभारत पूर्वरूप में 'जय' काव्य था। इसमें ८,८०० श्लोक थे। यह व्यास (वेदव्यास या कृष्ण द्वैपायन) की रचना थी। उन्होंने यह रचना अपने शिष्यों को सुनाई थी। यह दूसरे चरण में 'भारत' काव्य (या संहिता) हो गया। इसमें २४ हजार श्लोक हो गए थे। इसे वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय को उसके नागयज्ञ में सुनाया था। जनमेजय ने इस यज्ञ में वैशम्पायन से राजधर्मादि-विषयक अनेक

प्रश्न पूछे थे। उन सबके उत्तर भी मूल ग्रन्थ में सम्मिलित कर दिए गए। तृतीय चरण में यह 'महाभारत' हो गया और इसमें श्लोकों की संख्या १ लाख तक पहुंच गई। नैमिषारण्य में शौनक आदि ऋषियों ने १२ वर्षीय यज्ञ किया था। उसमें लोमहर्षण के पुत्र सौति ने सम्पूर्ण महाभारत सुनाया था। शौनक आदि ऋषियों ने जो विविध प्रश्न किए होंगे, उनके उत्तर आदि में सैकड़ों आख्यान और उपाख्यान सुनाए गए होंगे। उन सबका भी संग्रह इसमें कर लिया गया। अतः यह ग्रन्थ २४ हजार से १ लाख श्लोकों वाला हो गया। इसको सारणी के रूप में इस प्रकार रख सकते हैं :-

ग्रन्थ नाम	कर्ता	श्लोक संख्या	वक्ता श्रोता	अवसर
जय	व्यास	८८००	व्यास-वैशम्पायन	धर्म-चर्चा
भारत	वैशम्पायन	२४ सहस्र	वैशम्पायन जनमेजय	नागयज्ञ
महाभारत	सौति	१ लाख	सौति-शौनक आदि	नैमिषारण्य में यज्ञ

इस विषय में कुछ बातें विचारणीय हैं। जो संक्षेप में इस प्रकार हैं :-

(१) जय और भारत - जय और भारत वस्तुतः एक ही ग्रन्थ के दो नाम हैं। जय और भारत में कहीं पर भी अन्तर नहीं किया गया है। उसे 'ततो जयमुदीरयेत्' (आदि० ६२-२०) में 'जय' काव्य कहा गया है और 'जय-नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो वेजिगीषुणा' (आदि० ६२-२४) में उसे नामक इतिहास ग्रन्थ कहा गया है तथा उसी को अन्यत्र 'भारत' या 'भारत-संहिता' कहा गया है और उसकी श्लोक संख्या २४ सहस्र बताई गई है।

चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः।। (महाभारत)

आश्वलायन गृह्यसूत्र में भारत और महाभारत का पृथक् उल्लेख है, किन्तु प्रसंग होने पर भी भारत से पृथक् जय का उल्लेख नहीं किया है।

(२) ८८०० पद्य - ये ८८०० श्लोक वस्तुतः कूट-पद्य हैं, न कि जय-काव्य की श्लोक-संख्या। कहीं भी ८८०० श्लोकों को 'जय' काव्य नहीं कहा गया है। पाश्चात्य विद्वानों ने बिना किसी आधार के ८८०० श्लोकों का 'जय' काव्य से सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। महाभारत से ज्ञात होता है कि ये कूट-पद्य (गूढार्थ श्लोक) थे। व्यास गणेश-संवाद में भी संकेत मिलता है कि व्यास ने बीच-बीच में कूट-पद्य दिए हैं।

अष्टौ श्लोकसहस्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वा न वा।। (महाभारत)

(३) भारत-महाभारत - वस्तुतः महाभारत की प्रगति के दो ही चरण हैं - (१) जय या भारत - २४ सहस्र श्लोक, उपाख्यान रहित। उपर्युक्त 'चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्। उपाख्यानैर्विना०' से यह पूर्णतया स्पष्ट है। इसके कर्ता व्यास हैं, न कि वैशम्पायन। महाभारत में उल्लेख है कि व्यास की उपस्थिति में उनके आदेशानुसार वैशम्पायन ने जनमेजय को महाभारत सुनाया था। यह महाभारत का उपाख्यान-रहित 'भारत' काव्य ही था। (२) महाभारत - १ लाख श्लोक, उपाख्यान-सहित। शौनक आदि के यज्ञ में जो महाभारत सुनाया गया वह १ लाख श्लोकों का हो गया था। इसमें मुख्य रूप से उपाख्यान का अंश बढ़ाया गया था। इसका श्रेय सौति को है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य भी महाभारत की प्रगति के दो चरण मानते हैं।

महाभारत का समय

वाल्मीकि-रामायण के तुल्य महाभारत के भी काल-निर्णय में कुछ मौलिक कठिनाइयाँ हैं। (१) पाश्चात्य विद्वानों का महाभारत के युद्ध को वास्तविक और ऐतिहासिक घटना न मानना। (२) महाभारत के पात्रों को ऐतिहासिक न मानना। (३) महाभारत में निर्माण-सम्बन्धी किसी तिथि का स्पष्ट उल्लेख न होना। (४) पाश्चात्य विद्वानों का महाभारत के पात्रों, महाभारत-युद्ध और महाभारत-ग्रन्थ, इन तीन पृथक् बातों को अनावश्यक रूप से मिश्रित करना।

पुष्ट तथ्यों के अभाव में महाभारत के रचना-काल के विषय में जो मन्तव्य उपस्थित किए गए हैं, वे सर्वथा अनुमान पर आश्रित हैं। कुछ हद तक इसकी पूर्व-सीमा और अपर-सीमा अवश्य निर्धारित की जा सकती है।

पूर्व-सीमा - महाभारत की पूर्व-सीमा कम से कम ५०० ई० पू० माननी चाहिए। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना उचित प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य में महाभारत के पात्रों या घटनाओं का जो उल्लेख मिलता है, वह ऐतिहासिक महाभारत

की मूल घटनाओं पर निर्भर है, जिसका समय काल से लगभग ९ हजार ई० पू० है। भारतीय परम्परा के अनुसार महाभारत युद्ध की घटना, ३,१०० ई० पू० के लगभग मानी जाती है। वैदिक साहित्य में प्राप्त महाभारत के पात्रों और घटनाओं के उल्लेख के सम्बन्ध महाभारत-ग्रन्थ से नहीं है। जैसे - अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्त (काण्ड २० सू० १३७) में परीक्षित् का उल्लेख, शंखायन-श्रौतसूत्र (१५-१६) में कुरुक्षेत्र के युद्ध में कौरवों की पराजय का उल्लेख, ब्राह्मण ग्रन्थों में कुरु पाञ्चाल आदि का उल्लेख महाभारत की पूर्वसीमा कम से कम ५०० ई० पू० मानने के कारण ये हैं :-

(१) आश्वलायन गृह्यसूत्र (३-४-४) में भारत और महाभारत दोनों का उल्लेख है। इसका समय कम से कम ४०० ई० पू० है।

(२) बौधायन गृह्यसूत्र में श्लोक तथा एक श्लोक प्रमाण रूप में उद्धृत है।

यो० पृ० 'देशाचारे द्रव्याचारे साधारणे कुर्यात् मनसा वाऽवधेर्दोषे, यदाह भगवान्, पत्र पुष्प फल तोयं भक्तया प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः। (गीता ९-२६)

बौधायन धर्मसूत्र (२ २ २६) में भी महाभारत की चर्चा है। इनका समय कम से कम ४०० ई० पू० है। अतः महाभारत इससे पूर्ववर्ती है.

(३) भास (४५ ई० पू० के लगभग) के १३ नाटकों - दूत वाक्य, कर्णभार, उरुभंग, दूतघटोत्कच आदि - महाभारत पर आधारित हैं। अतः महाभारत ४५० ई० पू० से पूर्ववर्ती है।

(४) पाणिनि ने (४५ ई० पू० के लगभग) ने महाभारत के कतिपय पात्रों - युधिष्ठिर, भीम, विदुर आदि - का उल्लेख की है साथ ही महाभारत शब्द की सिद्धि भी की है अतः महाभारत की सत्ता ५०० ई० पू० से पूर्व सिद्ध होती है। पतञ्जलि (१५० ई० पू०) ने महाभारत-युद्ध का वर्णन विस्तार से दिया है।

(५) महाभारत में शान्ति-पर्व (३३६-१००) में दस अवतारों के वर्णन में बुद्ध का नाम नहीं है। अतः महाभारत बुद्ध (४८३ ई० पू० ४८३ ई० पू०) के समय से पूर्व की रचना है।

अपर सीमा - कतिपय प्रमाणों से ज्ञात होता है कि १ लाख श्लोकों वाला महाभारत प्रथम शताब्दी ई० में विद्यमान था।

(६) अश्वघोष (७८ ई० के लगभग) ने बुद्धचरित में महाभारत और हरिवंश-पर्व के श्लोक उद्धृत किये हैं। ह हरिवंश से उद्धरण का अभिप्राय है कि महाभारत १ लाख श्लोकों वाला प्रचलित था।

(७) डायो क्रायसोस्टोम नाम का एक यूनानी लेखक ५० ई० में पाण्ड्य देश (तमिल) में आया था। उसने अपने संस्मरण में यह लिखा है कि भारत में १ लाख श्लोकों वाला इलियड है। यह इलियड वस्तुतः महाभारत का ही सूचक है। इस आधार होल्टसमान, पिशेल, रॉलिन्सन आदि ने भी डायो के इलियड को महाभारत माना है। श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने भी इस तथ्य को देते हुए वर्तमान महाभारत का समय प्रथम शताब्दी ई० दिया है।

(८) अनेक विद्वानों ने द्वितीय और तृतीय शताब्दी ई० के बाद १ लाख श्लोकों वाले महाभारत के उल्लेख करने वाले सन्दर्भों का संग्रह किया है. प्रो० हॉपकिन्स और प्रो० सिल्वां लेवी ने जो सन्दर्भ दिए हैं, उनमें से कुछ ये हैं : (क) कुमारिल भट्ट (६०० ई०) ने महाभारत को स्मृति ग्रन्थ माना है और प्रायः सभी पर्वों से उद्धरण दिए हैं। (ख) सुबन्धु (६०० ई०) और बाण (६०८, ६४ ई०) ने भी महाभारत का उल्लेख किया है। (ग) गुप्त काल के एक शिलालेख (४४३ ई०) में महाभारत को 'लक्षश्लोकी संहिता' कहा है। (घ) ४५० से ५०० ई० के दानपत्रों में महाभारत को - 'शतसाहस्र्यां संहितायां वेदव्यासेनोक्तम्' कहा गया है (ङ) कम्बोडिया के ६०० ई० के एक शिलालेख में महाभारत का उल्लेख है।

निष्कर्ष - अतः यह कहा जा सकता है कि महाभारत का मूलरूप कम से कम ५०० ई० पू० में तैयार हो चुका था और उसका वर्तमानित १ लाख श्लोक वाला रूप प्रथम शताब्दी ई० में पूर्ण हो चुका था। महाभारत में ४वीं, ३री शताब्दी ई० तक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन होते रहे हैं।

महाभारत की शैली

महाभारत एक प्रौढ आकर-ग्रन्थ है। इसकी भाषा और शैली में रामायण सा परिष्कार अवश्य नहीं है, परन्तु इसमें उत्तुंग-तरंग-तरंगिता तरंगिणी के तुल्य वह प्रवाह, प्रसाद और प्रवेग है, जो अपनी प्रबल प्रवाह-धारा में बहाकर अज्ञानी को सज्ञान, नीरस को सरस, अबोध को सुबोध, अज्ञ को विज्ञ, अकुशल को कुशल, अनीतिज्ञ को नीतिज्ञ अव्यवहार्य को व्यवहार-पटु, पापात्मा को पुण्यात्मा और अन्ततः नर को नारायण बना देता है।

भाषा - महाभारत की शैली पांचाली है। 'शब्दार्थयोः समौ गुम्फः पाञ्चाली रीतिरिष्यते' (साहि० द० परि० ६)। इसमें शब्दों और अर्थों का सुन्दर समन्वय है। भाषा में सरलता, सरसता, रोचकता और प्रवाह है। भाव और रस के अनुरूप भाषा का वैविध्य भी परिलक्षित होता है। यथा -

(क) मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्। (उद्योग० १३३-१८)

(ख) कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्।। (उद्योग० १३३-१६)

छन्द - महाभारत में प्रमुख छन्द अनुष्टुप् (श्लोक) है, किन्तु स्थान स्थान पर इन्द्रवज्रा, उपजाति और वंशस्थ का भी प्रयोग मिलता है। अनुष्टुप् का प्रयोग धारावाहिक मिलता है।

रस - महाभारत में प्रायः सभी रसों का प्रयोग है, परन्तु वीर, अद्भुत और शान्त रस प्रमुख हैं। शृंगार का प्रयोग कम और संयत भाषा में है। इसमें वीर रस अंगी है, अन्य रस अंग। उद्योग, भीष्म, द्रोण, कर्ण और शल्य, इन ५ पर्वों में वीर-रस की ही अक्षुण्ण धारा प्रवाहित होती है।

अलंकार - महाभारत ने अलंकार के लिए अलंकारों का प्रयोग नहीं है। भाषा के प्रवाह में उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों के दर्शन होते हैं। अनुप्रास और यमक के अनेक प्रयोग हैं। अर्थान्तरन्यास का तो यह भण्डार ही है। अनुप्रास का उदाहरण, यथा - भीमो भीमपराक्रमः, अशोकः शोकनाशनः स तेषां इव तोयदः।

उपमा का प्रयोग। जैसे -

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे, न यथाऽङ्गारकारकः।।
(उद्योग० ३४ पर्व)

अर्थगौरव - महाभारत में नीति-शास्त्र, धर्म-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, राजनीति शास्त्र, अध्यात्म, मनोविज्ञान और तत्त्वज्ञान के अर्थगौरव तथा अर्थान्तरन्यास के सहस्रों उदाहरण हैं। यहाँ पर कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण उदाहरण दिए जा रहे हैं।

महाभारत का सांस्कृतिक महत्त्व

रामायण के पश्चात् महाभारत ही सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। यदि वास्तविकता की दृष्टि से देखा जाए तो महाभारत सांस्कृतिक दृष्टि से रामायण से भी बढ़कर है। संस्कृति और सभ्यता का महाभारत में जितना विशुद्ध चित्रण मिलता है, उतना अन्यत्र किसी भी ग्रन्थ में दुर्लभ है। महाभारत का वास्तविक सांस्कृतिक महत्त्व भगवद्गीता के कारण है। गीता करोड़ों हिन्दुओं के लिए न केवल आचार-संहिता है, अपितु वेद के समकक्ष एक धर्मग्रन्थ है। आर्यधर्म के सभी भेद-प्रभेद गीता की प्रमाणिकता पर लेशमात्र भी सन्देह नहीं करते। सत्य तो यह है कि गीता आर्य-धर्म को समन्वित एवं सूत्र-बद्ध करने वाली श्रृंखला है। महाभारत एक नहीं, अनेक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें विभिन्न संस्कृतियों का सम्मिश्रण, राष्ट्रीय भावना का उदय, आसुरी प्रवृत्तियों के दमन का प्रयास, भौगोलिक अनेकता में एकता, जीवन-दर्शन की व्यावहारिक दृष्टि से व्याख्या, अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता, महिलाओं में अबलात्व के परित्याग की प्रवृत्ति, राजनीति-कूटनीति-छद्मनीति-दण्डनीति और अनीति का व्यावहारिक प्रदर्शन, राजधर्म का सर्वांगीण निरूपण, आख्यान साहित्य का अक्षय कोष, नीति-शास्त्र की बहुमूल्य निधि एवं चतुर्वर्ग की सभी समस्याओं का समाधान है। इसमें एक ओर राजधर्म का उपदेश है तो दूसरी ओर मोक्ष-धर्म, एक ओर अशान्ति है तो दूसरी ओर शान्ति चर्चा, एक ओर कर्म मार्ग है तो दूसरी ओर ज्ञान-मार्ग, एक ओर दुर्योधन जैसा सहज-शत्रु है तो दूसरी ओर युधिष्ठिर जैसा अजातशत्रु, एक ओर भीष्मपितामह जैसे नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं तो दूसरी ओर शिखण्डी जैसे क्लीव, एक ओर अभिमन्यु जैसा कर्मशूर है तो दूसरी ओर अश्वत्थामा जैसा वाक्शूर, एक ओर श्रीकृष्ण जैसे योगिराज और नीति निपुण हैं तो दूसरी ओर दुःशासन जैसे दुश्चरित्र और नीति विध्वंसक, एक ओर विदुर जैसे ज्ञानी और पवित्रात्मा हैं तो दूसरी ओर शकुनि जैसे छद्मजीवी, एक ओर भीम जैसा पराक्रमी महायोधी है तो दूसरी ओर जयद्रथ जैसा कायर। इस प्रकार महाभारत में विरोधी गुणों का समावेश है। इसमें विरूपता में एकरूपता, अनेकता में एकता, विशृंखलता में समन्वय, व्यवहार में आदर्श, अशान्ति में शान्ति, प्रेय में श्रेय और धर्मार्थ में मोक्ष का समन्वय है।

महाभारत का परकालीन साहित्य पर प्रभाव

महाभारत आख्यान, नीति, धर्म और सांस्कृतिक तथ्यों का आकर-ग्रन्थ है। महाभारत की सेचकता, सरलता, सरसता और विद्वत्ता ने परकालीन साहित्यकारों को इतना प्रभावित किया कि वे महाभारत को अपना प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ मानने लगे। किसी ने आख्यान लिया है, किसी ने धार्मिक तत्त्व, किसी ने सांस्कृतिक तत्त्व और किसी ने चरित्र-चित्रण। इस प्रकार यह सबको प्रमुख उपजीव्य काव्य हो गया। स्वयं महाभारत में इसकी उपजीव्यता का अनेक प्रकार से उल्लेख है।

(क) सर्वेषां कविमुख्यानामुपजीव्यो भविष्यति।
परान्न इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः।।

(महा० आदि० ५-८८)

(ख) इतिहासोत्तमादस्माज्जायन्ते कविबुद्धयः।
गाध्यन्न इव भूतेभ्यो लोकसंविधयस्त्रयः।।

(आदि० ६-६५)

(ग) इदं कविवरैः सर्वैराख्यानमुपजीव्यते।
उदयप्रेप्सुभिर्भृत्यैरभिजात इवेश्वरः।।

(आदि० ६-६६)

महाभारत पर आश्रित प्रमुख ग्रन्थ ये हैं :-

(१) काव्य ग्रन्थ - भारवि-कृत किरातार्जुनीय, माघ-कृत शिशुपाल वध, क्षेमेन्द्र-कृत भारत-मंजरी, श्रीहर्ष-कृत नैषधीय-चरित, वासुदेव, वायकृत, नलाभ्युदय। (२) नाटक ग्रन्थ - भास-कृत दूत घटोत्कच, दूतवाक्य, कर्णभार, पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, पंचरात्र और उरुभंग; कालिदास-कृत अभिज्ञानशाकुन्तल, भट्टनारायण-कृत वेणीसंहार, राजशेखर-कृत बाल-भारत। (३) चम्पू-ग्रन्थ - त्रिविक्रमभट्ट-कृत नलचम्पू, अनन्तभट्ट-कृत भारत-चम्पू, नारायणभट्ट-कृत पांचाली स्वयंवर चम्पू, शेषकृष्ण-कृत दीक्षित कृत भारत चम्पू, चक्रकवि-कृत द्रौपदी-परिणय चम्पू।

श्रीमद्भगवद्गीता का सामान्य परिचय

महाभारत का वास्तविक सांस्कृतिक महत्त्व श्रीमद् गीता के कारण है। गीता करोड़ों हिन्दुओं के लिए न केवल आचार संहिता है, अपितु वेद के रहस्यों तथा उपनिषदों का सार भूत धर्म ग्रन्थ है। वेद, दर्शन और उपनिषद् ग्रन्थों के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने जिस गूढ़-गम्भीर तत्त्वचिन्तन की मीमांसा की है उन सब का निचोड़ गीता में अत्यन्त व्यवस्थित ढंग से संकलित एवं सङ्गृहीत है। पुरातन भारतीय संस्कृति, दर्शन और शास्त्रों की ज्ञान परंपरा का महाभारत विश्व कोश कहा जाता है। श्रीमद् भगवद् गीता उस महाभारत का ही नहीं अपितु समग्र भारतीय दर्शन धारा का निष्कर्ष है, इसीलिए गीता की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :-

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

अर्थात् सभी उपनिषदें गौओं के समान है और गोपाल नन्दन श्री कृष्ण उन गौओं को दुहने वाले। अर्थात् जो रूपी क्षीर को धारण करने वाली गौ सदृश उपनिषदों के सार सदृश दार्शनिक-ज्ञान रूप दूध का दोहन करने वाले श्री कृष्ण हैं। दोहन से पूर्व जिस प्रकार बछड़ा गौ के दोहन में साधन बनता है उसी वत्स रूप में अर्जुन हैं जिन्होंने श्री कृष्ण को ज्ञान दान के लिए बाध्य किया और इस ज्ञान रूप दुग्ध का उपभोग करने वाले विद्वत् जन हैं और यह अमृत के समान गीता का ज्ञान रूप दुग्ध महान है। उपनिषद सारभूत श्रीमद् भगवद् गीता को इसी कारण शाङ्करवेदान्त की प्रस्थानत्रयी में रखा गया है। प्रस्थानत्रयी के तीनों ग्रन्थ हैं - दशोपनिषद् (शांकर भाष्य युक्त), ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद् गीता। ब्रह्मसूत्र और भगवद् गीता को पराशर व्यास द्वारा संकलित अथवा रचित माना जाता है। कृष्ण द्वैपायन, पाराशर और वेदव्यास ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं अथवा एक ही व्यक्ति के नाम हैं यह ऐतिहासिक दृष्टि से विवाद का विषय है परन्तु भारतीय अनुश्रुति इन्हें एक ही व्यक्ति के नाम मानती है। इसके अनुसार ये वास्तविक नाम कृष्ण है। द्वीप में उत्पन्न होने के कारण और रहने के कारण इन्हें "द्वैपायन" पराशर ऋषि

के पुत्र होने के कारण (मत्स्यगन्धा और ऋषि पराशर के प्रणय विवाह से उत्पन्न) 'पाराशर' और वैदिक ऋचाओं और मन्त्रों का ऋग्वेद संहिता, यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता तथा अथर्ववेद संहिता के नाम से व्यास अर्थात् विभाजन करने के कारण ये वेदव्यास कहलाए। इस प्रकार व्यास ने जहां भारत को दर्शन दृष्टि दी, तत्व बोध कराया, चिन्तन सारणि का पथप्रदर्शन किया वहीं उन्होंने भारतीय संस्कृति का विश्वकोश प्राचीन काव्य महाभारत भी दिया तथा अष्टादश पुराणों द्वारा आनुश्रुतिक इतिहास को सर्गबद्ध किया।

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक विद्वान एवं आलोचक व्यास को एक पदवी मानते हैं और अनेक विद्वानों द्वारा किए गये इन महान कार्यों को व्यास कृत माना जाता है जो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के कार्य अथवा रचनाएं हैं। यह एक अलग से विचारणीय विषय है।

श्रीमद्भगवद् गीता की अनुशंसा एवं माहात्म्य प्रदर्शन नामक भाष्य में गूढार्थ दीपिका के प्रारंभकथन में आचार्य मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि अर्जुन के प्रतिबोधन के लिए स्वयं भगवान नारायण के द्वारा कही गई तथा प्राचीन मुनि व्यास द्वारा महाभारत के मध्य में कौरव पाण्डव सेना के दोनों ओर दर्शन रूप शास्त्र की चर्चा करने वाली, अट्ठारह अध्यायों वाली देवी स्वरूपा हे भगवद् गीते! मैं तुम्हारी उपासना एवं व्याख्यान करता हूँ।

भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
व्यासेन ग्रथितां पुराण मुनिना मध्ये महाभारतम्।
अद्वैतामृतवर्षिणी भगवती मष्टादशाध्यायिनीम्
अम्ब! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम्।।

वस्तुतः गीता कोई एक दर्शन नहीं है अपितु यह समस्त प्राचीन औपनिषदिक दर्शनों का सार है। सभी आस्तिक दर्शनों में इस ग्रन्थ के वचनों का प्रमाण माना जाता है और लगभग सभी दर्शनों के मूलभूत सिद्धान्त यहां श्लोक रूप में उपलब्ध हैं। अतः इस प्रकार के उपनिषद् - दर्शन सारभूत गीता ग्रन्थ को अखण्ड भारत के सभी न्यायालयों में हिन्दू धर्म के धर्म ग्रन्थ के रूप में शपथ दिलाते समय समक्ष रखा जाता है और इस पर हाथ रख कर शपथ दिलाई जाती है। श्रीमद्भगवद् गीता के महत्व का एक अन्य उदाहरण यह भी है कि श्रीमद्भगवद् गीता के जितने अनुवाद, भाष्य और टीकाएं हुई हैं उतना भाषान्तर अनुवाद या व्याख्यान विश्व के किसी अन्य ग्रन्थ का नहीं हुआ। भारत की प्रायः सभी भाषाओं में तथा विश्व की विकसित और समुन्नत प्रायः सभी भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है।

श्रीमद्भगवद् गीता सरल भाषा में रचित वह धर्मग्रन्थ और दर्शन ग्रन्थ है जिसमें वर्णित विषय को मनुष्य थोड़ा सा अभ्यास करने पर सहज ही समझ सकता है और इसे जीवन में अपना कर परम लक्ष्य तक पहुंच जाता है। ईश्वर के गुण, प्रभाव और रहस्य का ऐसा वर्णन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता क्योंकि अन्य ग्रन्थों में कुछ न कुछ सांसारिक विषय मिला रहता है। यद्यपि वेदव्यास की रचना महाभारत को विश्वकोश और संस्कृत साहित्य में रामायण के बाद महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है परन्तु भगवान श्री कृष्ण के मुखारविन्द से कथित होने के कारण और यथार्थ दर्शन का उपदेश होने के कारण इस ग्रन्थ को एक अलग ही स्थान प्राप्त है। स्वयं वेदव्यास ऋषि ने इसके माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा है :-

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।

भगवद्गीता के द्वितीय अध्याय का सार

महाभारत के छठे पर्व 'भीष्म पर्व' के अन्तर्गत संकलित श्रीमद्भगवद्गीता अट्ठारह अध्यायों में विभक्त है; विषय प्रतिपादन की दृष्टि से प्रत्येक अध्याय का नामकरण किया गया है जैसे प्रथम अध्याय को 'अर्जुन विषाद योग' नाम दिया गया है और द्वितीय अध्याय को 'सांख्य योग' नाम दिया गया है। इस अध्याय में कुल ७२ श्लोक हैं विषय की दृष्टि से इसे पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है।

१ अर्जुन की कायरता के विषय में श्रीकृष्ण और अर्जुन का संवाद :- प्रथम १० श्लोकों में यह संवाद 'सांख्य योग' नामक दार्शनिक विषय की पृष्ठ भूमि अथवा भूमिका है। प्रथम अध्याय में संजय महाराजा धृतराष्ट्र के यह पूछने पर कि "धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से आमने-सामने डटे हुए मेरे और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया" संजय उत्तर देते हुए दोनों सेनाओं के महारथियों

का परिचय देकर कहते हैं कि अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि हे हृषीकेश मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में ले चलो। मैं देखना चाहता हूँ कि दुर्बुद्धि दुर्योधन के हितैषी राजा कौन-कौन हैं और मुझे किस-किस के साथ युद्ध करना है। [illegible] के मध्य में खड़े होकर जब अर्जुन ने अपने पितामह, आचार्य, चाचा ताऊओं, मामा, भाईयों, पुत्रों पौत्रों और अनेक अन्य सम्बन्धियों को देखा तो वह मोहाविष्ट होकर कहने लगा कि हे कृष्ण मैं यह युद्ध नहीं लड़ सकता, अपने दादा गुरुओं, भाईयों पुत्र मित्र और सम्बन्धियों को मारकर जिसके लिए राज्य प्राप्त करूंगा अपने को मारकर कुल विनाश करके मैं पाप का भागी नहीं बनना चाहता। मैं तो निहत्था होकर कौरवों के हाथों मरना उचित समझता हूँ। संजय धृतराष्ट्र को बतला रहे हैं कि हे राजन् ऐसा वचन कह कर शोक से उद्विग्न मन वाले अर्जुन अपने धनुष बाण को छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गये।

द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में संजय कहते हैं कि व्याकुल और शोकाभिभूत अर्जुन को मधुसूदन ने कहा कि हे अर्जुन ! तुम्हारा यह आचरण किसी भी प्रकार से उचित नहीं है इसलिए, दुर्बलता और नपुंसकता को छोड़ो और युद्ध के लिए खड़े हो जाओ। अर्जुन कहता है कि हे मधुसूदन मैं अपने पूज्य पितामह और गुरुजन को मार कर खून से सने भोगों का नहीं भोगना चाहता और जिन्हें इस विजय प्राप्त कर भी लेंगे तो वे भी हमारे आत्मीय ही हैं। इसलिए कातरता से मुक्त होने के लिए स्वभाव वाला मैं आपकी शरण में हूँ मुझे आप जो साधन निश्चित कल्याण का कारण है मुझे वह बतलाइये। मैं आपका शिष्य हूँ मुझे उचित शिक्षा दीजिए क्योंकि मैं इन्द्रियों को मोहित करने वाले शोक को दूर करने का उपाय नहीं देख रहा हूँ। अतः मैं एक छत्र राज्य को और देवताओं के आधिपत्य को भी प्राप्त कर लूँ। इस प्रकार अपनी भावना को प्रकट करके अर्जुन श्री कृष्ण से स्पष्ट रूप से यह कहकर कि "मैं युद्ध नहीं करूंगा" चुप हो गये।

२. सांख्य योग निष्ठा :- ग्यारहवें श्लोक से ३०वें श्लोक तक श्री कृष्ण के उपदेश के रूप में सांख्य योग अर्थात् का इस प्रकार वर्णन किया गया है :-

दोनों सेनाओं के बीच में खड़े होकर युद्ध न करने का ऐलान करने वाले अर्जुन को अन्तर्यामी कृष्ण समझाते हुए से कहते हैं कि हे अर्जुन तुम पहले से विद्वानों जैसी बातें करते हो लेकिन यह नहीं जानते कि पण्डित लोग मरे हुओं और जीवितों के लिए शोक नहीं करते। मैं, तुम और ये सभी राजा पहले भी उत्पन्न हुए थे, और आगे भी उत्पन्न होंगे।

इस जीवात्मा की बचपन, जवानी और बुढ़ापा आदि अवस्थाएं होती हैं। उसी प्रकार दूसरा शरीर धारण करना भी एक अवस्था है। इसलिए धीर पुरुष इस विषय (देह परित्याग और दूसरे शरीर के प्राप्ति) में शोक नहीं करते। सुख दुःख आदि विषयों के संयोग और इन्द्रियों को उत्पन्न होने वाले, नाश होने वाले और अनित्य हैं इसलिए इन्हें सहन कर। सुख और दुःख को समान समझने वाला धीर व्यक्ति ही मोक्ष का अधिकारी होता है। सत् और असत् को पहचान, अविनाशी तो केवल उसी को जिसमें यह सम्पूर्ण विद्यमान और व्याप्त है। इस अविनाशी का कोई विनाश नहीं कर सकता। इस अविनाशी, अप्रमेय और नित्य जीव के ये सब शरीर ही नश्वर हैं, इसलिए तू युद्ध कर। आत्मा के स्वरूप को और अधिक स्पष्ट करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि यह आत्मा न तो मरता है और न ही किसी को मारता है। जो इसे मारने वाला और मरने वाला मानते हैं वे अज्ञानी हैं। क्योंकि "न जायते म्रियते ..... अजो नित्यः ..... शरीरे" यह आत्मा न तो उत्पन्न होता है और न ही मृत्यु को प्राप्त होता है। न तो यह जन्म ग्रहण करता है यह तो अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीर के मारे जाने पर भी यह नहीं मरता। जो इस आत्मा को जानता है वह कैसे किसको मरवा सकता है अथवा मार सकता है।

एक दृष्टान्त के द्वारा जन्म-मरण और पुनर्जन्म को समझाते हुए केशव कहते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण और फटे वस्त्रों को त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है उसी प्रकार यह जीवात्मा पुराने तथा जीर्ण शरीर को परित्याग करके नये शरीरों को धारण करता है। यह आत्मा न काटा जा सकने वाला, न जलाया जा सकने वाला (अर्थात् जल से न भीगने वाला तथा न सूखने वाला है, यह अच्छेद्य, अविच्छेद्य निकार रहित है, इसलिए इसे शस्त्र काट नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती, जल गला नहीं सकता और वायु सुखा नहीं सकता अतः इस विषय में तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए। और यदि तू इस आत्मा को सदा जन्म तथा मरण स्वभाव वाला ही मानता है तो भी तुम्हें शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" अर्थात् जन्म धारण करने वाले प्राणी को मृत्यु अवश्य प्राप्त होती है और मरे हुए का जन्म अवश्य होता है इसलिए इस अवश्यम्भावी और उपाय रहित विषय में तुझे शोक नहीं करना चाहिए, और भी ये सभी प्राणी जन्म से पूर्व अप्रकट थे, मृत्यु के पश्चात् अदृश्य ही रहते हैं केवल इनके मध्य में ही प्रकट हैं, इस स्थिति को जानते हुए तुझे शोक करना ठीक नहीं। आत्मा को जानने वाला, बतलाने वाला और इसे सुनकर समझने वाला कोई विरला ही होता है क्योंकि बहुत से लोग तो इसे सुनकर भी समझ नहीं पाते हे अर्जुन यह आत्मा सब प्राणियों के शरीरों में सदा अवध्य है, अतः सबके लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है।

३. क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करने की आवश्यकता का निरूपण : श्लोक संख्या ३१ से ३७ तक श्री कृष्ण अर्जुन को क्षात्र धर्म के अनुसार युद्ध करना आवश्यक बताते हुए उसके मोह को दूर करके युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि सांख्य-योग दर्शन के अनुसार प्राणियों की मृत्यु के लिए दुःखी होना तुम जैसे क्षत्रिय के लिए योग्य नहीं है और क्षत्रिय होने के नाते क्षात्र धर्म के अनुसार भी क्षत्रिय के लिए धर्मानुसार युद्ध करना सबसे बड़ा और कल्याणकारी कर्तव्य है क्योंकि क्षत्रिय के लिए स्वर्ग प्राप्ति का मार्ग युद्ध ही है और इसे अर्थात् धर्मपूर्वक किए जाने वाले युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं, इसलिये यदि तुम युद्ध नहीं करोगे तो पाप के भागी बनोगे और अनन्त काल तक तुम्हारी अपकीर्ति तुम्हारे लिए मरण से भी बढ़कर होगी और इस प्रकार तेरी कायरता पर यह सम्पूर्ण क्षत्रिय वर्ग तुम्हें अनेक वचनों से धिक्कारेंगे। यह तेरे लिए सबसे अधिक दुःखदायी और असहनीय होगा इसलिए उठ और युद्ध कर क्योंकि यह युद्ध तुम्हें दोनों प्रकार से लाभप्रद होगा; यदि युद्ध में मारे गये तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि विजयी हुए तो पृथ्वी के राज्य को भोगोगे। "हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।" तुम सुख दुःख, लाभ हानि, जय पराजय इन सबको समान समझ कर यदि युद्ध करोगे तो पाप के भागी नहीं होगे, इस प्रकार पञ्चम ३० श्लोकों में ज्ञान-योग का वर्णन करने के पश्चात् श्रीकृष्ण अर्जुन को कर्म योग का उपदेश देते हुए कहते हैं कि इस विषय (वर्णनीय) को जान कर तू कर्मों के बन्धन को त्याग देगा जिससे इतना मोहाविष्ट हुआ है।

४. कर्मयोग विषय का उपदेश : द्वितीय अध्याय के श्लोक ३९ से ५३ तक कर्मयोग विषय का उपदेश किया गया है : कृष्ण मोहाविष्ट अर्जुन को कर्म के स्वरूप का सही वर्णन समझाते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन इस कर्मयोग में प्रारम्भ का विनाश और फलदोष नहीं है बल्कि इसके स्वरूप का थोड़ा सा भी ज्ञान जन्म और मृत्यु के महान भय से रक्षा करने का साधन बनता है। सामान्य ज्ञानी वे सकाम कर्म का मोह रहता है जिससे उनकी बुद्धियां अनेकानेक भेदों वाली होकर विवेकहीन और अस्थिर विचारों को जन्म देती हैं, हे पार्थ जो व्यक्ति वेद एवं ब्राह्मण वाक्यों के कर्मकाण्ड पर विश्वास रखते हैं जो अनेक भोगों को और स्वर्ग को प्राप्त करने के लिए सकाम कर्म करते हैं और उन प्राणियों का उपदेश करते हैं जो जन्म रूप कर्मफल को और अनेक ऐश्वर्यों को देने वाली है, उसे उन पुरुषों की बुद्धि परमात्मा में निश्चय वाली नहीं होती अपितु भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति बढ़ाने वाली होती है। अतः तू उन सबको छोड़ जो तुझे भोगों और उनके साधनों में आसक्ति बढ़ाने वाले हैं और योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) और क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा) की इच्छा न करता हुआ स्वाधीन अन्तः करण वाला बन। वैदिक कर्मकाण्ड में ज्ञान मार्ग को श्रेष्ठ बतलाते हुए कहा गया है कि ब्रह्म को तत्व से जानने वाला जल से परिपूर्ण विशाल जलाशय को प्राप्त करने वाले वेदों का कर्मकाण्ड छोटे जलाशय के समान है। अतः हे अर्जुन "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है उसके फल में नहीं। इसलिए न तो तू कर्मों के फल का हेतु बन और न ही कर्म से विमुख हो, आसक्ति को छोड़ कर सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित होकर अपने कर्तव्य कर्मों को कर, कर्म के करने, पूर्ण होने, न होने और उसके फल में समत्व ही योग कहलाता है। समत्व योग द्वारा समबुद्धि युक्त ज्ञान इसी लोक में पाप और पुण्य को त्याग देता है और उनसे मुक्त हो जाता है, यह समत्व रूप योग ही कर्मों में कुशलता है और कर्म के बन्धन मुक्ति का उपाय है, "योगः कर्मसु कौशलम्"। समबुद्धि मनुष्य निर्विकार पद को प्राप्त करके सभी लोक परलोक के भोगों से वैराग्य को प्राप्त कर लेते हैं। तू भी जब परमात्मा में अचल और स्थिर बुद्धि वाला हो जाएगा तब तू योग को प्राप्त हो जायेगा।

५. स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण तथा महिमा :- श्लोक ५४ से ७२ तक स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण और उसकी महिमा का वर्णन किया गया है। अर्जुन जब स्थिर बुद्धि पुरुष के लक्षण तथा उसके व्यवहार के बारे में पूछते हैं श्री कृष्ण कहते हैं कि जब मनुष्य मन की सभी कामनाओं को छोड़ कर आत्मा से आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता है। इस संसार में ही वह स्थित प्रज्ञ है और अधिक विस्तार से बतलाते हुए कहते हैं कि जब मनुष्य सदा किसी भी प्रकार की वस्तु को पाकर प्रसन्न और दुःखी नहीं होता, वही स्थिर बुद्धि वाला है, कछुवे के समान जो इन्द्रियों को विषयों से हटा कर समेट लेता है वही स्थिर बुद्धि है। इस प्रकार के मनुष्यों की आसक्ति भी परमात्मा का साक्षात्कार करके लौट जाती है। इन्द्रियों को वश में करने वाले मनुष्य की ही बुद्धि स्थिर होती है अन्यथा आसक्ति के कारण इन्द्रियां पुनः मन को भी बलात् हर लेती हैं। मन और इन्द्रियों के कर्म का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि विषय चिन्तन से आसक्ति, आसक्ति से कामना, कामना पूर्ति में विघ्न पड़ने पर क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृति भ्रम, बुद्धि विनाश और तत्पश्चात् अपनी स्थिति से पतन हो जाता है। परन्तु जो साधक अपने मन को वश में कर लेता है उसकी इन्द्रियां राग-द्वेष से रहित आचरण करती हुई अन्तः करण की प्रसन्नता को प्रदान करती हैं। इस प्रकार बुद्धि केवल परमात्मा में ही स्थिर हो जाती है। अशान्त मनुष्य बुद्धिहीन होकर दुःखी रहता है और स्थिर बुद्धि वाला मनुष्य सुखी रहता है। स्थित प्रज्ञ योगी समुद्र के समान अविचल और शान्त हो जाता है वह सम्पूर्ण कामनाओं को छोड़ कर विकार रहित होकर परम शान्ति को प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन ! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए मनुष्य की स्थिति है जिसमें स्थित हुआ योगी ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

रघुवंशमहाकाव्यम्

द्वितीयः सर्गः

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्।
वसिष्ठधेनुर्मुषेनुयोज।। १।।

अन्वय :- अथ, यशोधनः, प्रजानाम्, अधिपः, प्रभाते, जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्, पीतप्रतिबद्धवत्साम्, ऋषेः, धेनुम्, वसिष्ठ तन्त्र (यशोधनेन प्रजानामधिपेन जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्या पीतप्रतिबद्धवत्सा ऋषेर्धेनुर्मुमुचे।)

अर्थ :- रात के बीत जाने पर प्रातः काल प्रजाओं के पालन करने वाले, यश को ही धन समझने वाले राजा दिलीप ने रानी सुदक्षिणा के द्वारा पूजन में प्राप्त चन्दन और पुष्पों की माला को धारण की हुई, दूध पी चुकने के बाद जिसका बछड़ा बांध दिया गया है, ऐसी ऋषि वशिष्ठ की नई ब्याई हुई नन्दिनी नाम की गौ को जंगल में चरने के लिये खोल दिया ।।१।।

तस्याः खुरन्यास पवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया।
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।। २।।

अ० - अपांसुलानां, धुरि, कीर्तनीया, मनुष्येश्वरधर्मपत्नी, खुरन्यास पवित्रपांसुम्, तस्याः, मार्गं, स्मृतिः, श्रुतेः अर्थम्, इव, अन्वगच्छत् (कीर्तनीयया मनुष्येश्वरधर्मपत्न्या खुरन्यास पवित्रपांसुमार्गः स्मृत्याऽर्थः इवानुगम्यते।)

अर्थ :- पतिव्रताओं में सर्वप्रथम राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों के रखने से पवित्र धूलि वाले उस के मार्ग का जैसी भाँति अनुसरण किया जैसे मन्वादि स्मृतियाँ वेद के अर्थों का अनुसरण करती हैं।। २।।

निवर्त्य राजा दयितां दयालुस्तां सौरभेयीं सुरभिर्यशोभिः।
पयोधरीभूतचतुःसमुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम्।। ३ ।।

अ० - दयालुः, यशोभिः, सुरभिः, राजा, तां, दयितां, निवर्त्य, सौरभेयीं, पयोधरीभूतचतुःसमुद्राम्, गोरूपधराम्, उर्वीम् इव, जुगोप। वा० दयालुना सुरभिणा राज्ञा सा सौरभेयी पयोधरीभूतचतुःसमुद्रा गोरूपधरेव जुगुपे।

अर्थ-दया से युक्त, कीर्त्ति से सुशोभित राजा दिलीप प्यारी पटरानी सुदक्षिणा को लौटाकर जिसके दूध से थन ही समुद्र हैं ऐसी उस नन्दिनी को, चार समुद्रों को थन स्तनों के रूप में धारण की हुई गौ के रूप में उपस्थित पृथ्वी की भाँति रक्षा करने लगे ।।३।।

व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्गः।
न चान्यतस्तस्य शरीररक्षा स्ववीर्यगुप्ता हि मनोः प्रसूतिः।। ४।।

अ० व्रताय, धेनोः, अनुचरेण, तेन, शेषः, अपि, अनुयायिवर्गः, न्यषेधि, तस्य, शरीररक्षा, च अन्यतः, न, हि मनोः प्रसूतिः क्षत्रियस्य वा है। (अनुचरः स शेषमप्यनुयायिवर्गं न्यषेधीत् शरीररक्षा प्रसूता स्ववीर्यगुप्ता भूपतेः।)

अर्थ-गोसेवामत पालन करने के लिये रोचक की भाँति पीछे-पीछे चलने वाले उस 'राजा दिलीप' ने 'सुदक्षिणा' के लौटाने के बाद बचे हुए अनुचर वर्ग को भी पीछे-पीछे आने से रोका। उनको शरीर की रक्षा करने के लिये भी दूसरे पुरुष की आवश्यकता नहीं थी; क्योंकि 'वैवस्वत' मनु के वंश में उत्पन्न राजा लोग अपने ही पराक्रम से आत्मरक्षा कर लेते हैं ।।४।।

आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अभ्याहतैः स्वैरगतैः स तस्याः सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत्।। ५।।

अ०-सम्राट्, सः, आस्वादवद्भिः, तृणानां कवलैः, कण्डूयनैः, दंशनिवारणैः, अभ्याहतैः, स्वैरगतैः च, तस्याः, सम्यगाराधनतत्परः अभूत्।

अर्थ-चक्रवर्ती वे राजा दिलीप स्वादयुक्त कोमल तृणों के ग्रासों से, शरीर के खुजलाने से, वन के मच्छरों के इधर-उधर उड़ाने से और बिना रुकावट के स्वच्छन्द फिरने देने से उस 'नन्दिनी' को प्रसन्न करने में तत्पर हुए।। ५ ।

स्थितां स्थिलामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।। ६।।

अ० भूपतिः, तां, स्थिताम् (सतीम्), स्थिराम् (स्त्रीम्), प्रयाताम् (सतीम्), उच्चलितः (सन्), निषेदुषीम् (स्त्रीम्), आसनबन्धधीरः (सन्), जलम्, आददानाम् (सतीम्), जलाभिलाषी (सन्, इत्यनुः), छायाम्, इव, अन्वगच्छत्।

अर्थ- पृथ्वीपति 'राजा दिलीप' ने उस धेनुनी को उठती हुई को उठते हुए, चलती हुई को चलते हुए, बैठती हुई को बैठते हुए, जल पीती हुई को जल पीते हुए, इस प्रकार से छाया की भाँति अनुसरण किया।। ६।।

स न्यस्तचिह्नामपि राजलक्ष्मीं तेजोविशेषानुमितां दधानः।
आसीदनाविष्कृतदानराजिरन्तर्मदावस्थ इव द्विपेन्द्रः।। ७।।

अ०-न्यस्तचिह्नाम्, अपि, तेजोविशेषानुमिताम्, राजलक्ष्मीम्, दधानः, सः, अनाविष्कृतदानराजिः, अन्तर्मदावस्थः, इव, द्विपेन्द्रः।

अर्थ- यद्यपि वे छत्र चामरादि चिह्नों से सुशोभित नहीं थे, तथापि अपने तेज की अधिकता से ही जानी जाती हुई राजलक्ष्मी को धारण करते हुए, वास्तव रूप से नहीं दिखाई पड़ रही है मद की रेखा जिसकी, ऐसे एवं भीतर स्थित हुए मद की अवस्था जिसकी, ऐसे गजराज की भाँति मालूम पड़ते थे।। ७।।

लताप्रतानोद्ग्रथितैः स कल्पैरुन्माथिनां सायम्।
रक्षाऽपदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्।। ८।।

अ०-लताप्रतानोद्ग्रथितैः, सः, (उपलम्भितैः) सः, अधिज्यधन्वा (सन्), मुनिहोमधेनोः, रक्षाऽपदेशात्, वन्यान्, दुष्टसत्त्वान्, विनेष्यन्, इव, दार्वं, विशेषाः। सं०-सेनाधिज्यधन्वा राजा शिकारार्थं दक्षो विशेषे।

अर्थ- लताओं के ऐसे-ऐसे झूले के समान झाड़ियों से उलझे हुए सिर के बालों से सुशोभित वे राजा दिलीप प्रत्यञ्चा चढ़े हुए धनुष को धारण किए वसिष्ठ महर्षि को होम की सामग्री घृतादि देने वाली नन्दिनी की रक्षा करने के व्याज से वनले दुष्ट 'व्याघ्रादि' जीवों का शासन करने के लिये ही मानों जंगल में घूम रहे थे।। ८।।

विसृष्टपार्श्वानुचरस्य तस्य पार्श्वद्रुमाः पाशभृता समस्य।
उदीरयामासुरिवोन्मदानां नादालोकश्रवणं वयोभिः।। ९।।

अ०-विसृष्टपार्श्वानुचरस्य, पाशभृता, समस्य, तस्य, पार्श्वद्रुमाः, उन्मदानाम्, वयोभिः, विरावैः, आलोकशब्दम्, उदीरयामासुः, इव। वा०-पार्श्वद्रुमैरालोकशब्दः, उदीरयामासे।

अर्थ-पार्श्ववर्ती अनुचरवृन्द के छोड़ देने पर भी वरुण के समान प्रभावशाली उन राजा दिलीप के आसपास के वृक्षों ने उन्मत्त पक्षियों के शब्दों द्वारा जयशब्द उच्चारण किया ऐसा मालूम पड़ता था।। ९।।

मरुत्प्रयुक्तैरुपकीर्यमाणाः सरत्नवर्षाभिरिवावभासम्।
अभिप्रपेदिरे बाललताः प्रसूनैराचारलाजैरिव पौरकन्याः।। १०।।

अ०- मरुत्प्रयुक्ताः, बाललताः आशाः, अभिवर्षणम्, सरत्नवर्षाभम्, आशाः ते, प्रसूनैः पौरकन्याः, आचारलाजैः, इव, अभिपिरे। (मरुत्प्रयुक्ता विविधा लताभिरुपमिता वर्षमाणो मरुत्प्रयुक्तैः स प्रसूनैः पौरकन्याभिरवाकीर्यत।

अर्थ- वायु से प्रेरित (हिलाई गई) फूलों के गुच्छों से [ ] (रोजदार), सभी में स्थित, पूज्य उन राजा दिलीप) के ऊपर फूलों की वर्षा करती हुई जैसी [ ] आशाएँ नगर की कन्याओं के धान के लावों की वर्षा करती हैं।

धनुर्भृतोऽप्यस्य रजोनिमार्ष्यात्तपः करणोपवेशेः।
विलोकयद्भिर्वपुरात्मपूर्णं प्रकामविस्तारफलं हरिण्यः।। ११।।

अ०-धनुर्भृतः, अपि, अस्य, विशङ्कैः, अन्तःकरणैः, प्रकाशभावम् आत्मकं वपुः, विलोकयद्भिः, हरिण्यः, अक्षणां प्रकामविस्तारफलम्, आपुः। वा०-विलोकयन्तीभिर्हरिणीभिरक्षणां प्रकामविस्तारफलमापे।

अर्थ- धनुष को धारण किये हुए भी राजा दिलीप को शंका से शून्य अपने अन्तःकरणों के द्वारा तपस्या से आत्म अभिप्राय मालूम होने से उनके शरीर को विशेष रूप से देखती हुई हरिणियों ने अपनी आँखों का अत्यन्त बड़े होने का फल प्राप्त किया।। ११।।

स कीचकैः पूरितपूर्णभेदैः कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम्।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरुद्गीयमानं वनदेवताभिः।। १२।।

अ०-सः मारुतपूर्णरन्ध्रैः, कूजद्भिः, कीचकैः, आपादितवंशकृत्यं, कुञ्जेषु, वनदेवताभिः, उच्चैः, उद्गीयमानम्, स्वं, यशः, शुश्राव। वा०-स्वं यशः शुश्रुवे।

अर्थ- उन राजा दिलीप ने वायु से भरे हुए छिद्रों के होने से शब्द करते हुए तथा सम्पूर्ण बांसों से बंशी का कार्य सम्पन्न किया जा रहा है, ऐसे लतागृहों में वन की अधिष्ठात्री देवियों से ऊँचे स्वरों में गाया जाता अपना यश सुना।। १२।।

पुष्करसुपारैर्गिरिनिर्झराणागन्धोकहाऽऽकम्पितपुष्पगन्धी।
तमातपक्लान्तमकल्पपत्रमाचारपूतं पवनः सिषेवे।। १३।।

अ० गिरिनिर्झराणां, सुपारैः, पुष्करैः, अनोकहाकम्पितपुष्पगन्धी, पवनः आतपत्रम्, आतपक्लान्तम्, आचारपूतं, तं सिषेवे वा०-पुष्करैर्नोऽकहा कम्पितपुष्पगन्धिनः पवनेनातपत्रं आतपक्लान्तं आचारपूतः स सिषेवे।

अर्थ- पहाड़ी झरनों के जलबिन्दुओं से युक्त अत एव शीतल तथा वृक्षों के कुछ-कुछ हिले हुये फूलों के गन्ध से अनु- हुआ 'मन्द-मन्द सुगन्धित वायु' वह करने से छत्र से रहित अत एव घाम से मुरझाये हुए सदाचार से पवित्र उन राजा दिलीप की सेवा करने लगा।। १३।।

शशाम वृष्ट्याऽपि विना दिवागिनरासीद्विशेषा फलपुष्पवृद्धिः।
स्वं न सस्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन् वनं गोप्तरि गाहमाने।। १४।।

अ०-गोप्तरि, तस्मिन्, वनं गाहमाने (सति), वृष्ट्या, विना अपि दवाग्निः, शशाम, फलपुष्पवृद्धिः, विशेषा, आसीत्, सस्वेषु (मध्ये अधिकः, स्वं, न बबाधे। (दवाग्निः, शशे, फलपुष्पवृद्धयः विशेषाः आसुः, अधिकोनोनो न बबाधे।)

अर्थ जगत् की रक्षा करने वाले उन राजा दिलीप के वन में प्रवेश करने पर वृष्टि के बिना ही वन की आग शान्त हुई, फल और पुष्पों की वृद्धि अधिक हुई, तथा बनैले जीवों के बीच में कोई, बलवान् 'व्याघ्रादि' अपने से निर्बल किसी जन्तु को नहीं सताने लगा।। १४।।

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
पयस्विनी पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।। १५।।

अ० पल्लवरागताम्रा, पयस्विनी, प्रभा, मुनेः, वसिष्ठस्य, च, धेनुः, दिगन्तराणि, संचारं पूतानि, कृत्वा, दिनान्ते, निलयाय, गन्तुं, उपक्रमे

अर्थ- पल्लव के वर्ण की तरह लाल वर्ण वाली सायं [illegible] और मुनि वसिष्ठ की धेनु ये दोनों, दिशाओं के मध्य भाग को अपने अपने संचार से पवित्र करके दिन के अन्त (सन्ध्या काल) में अपने घर जाने के लिये तथा अपने आश्रम में पहुँचने के लिए उपक्रम करने लगी।। १५।।

स मध्यमलोकपालः दैवतपित्रतिथिक्रियाऽर्थमित्वर्ययौ मध्यमलोकपालः।
बभौ च सा तेन सतां मतेन श्रद्धेव साक्षाद्विधिनोपपन्ना।। १६।।

अ० मध्यमलोकपालः, दैवतपित्रतिथिक्रियार्थं, तां, अन्वगात्, ययौ, सतां मतेन, तेन, उपपन्ना, सा (सतामतेन) विधिना उपपन्ना, साक्षात्, श्रद्धा, इव, बभौ च। 'मध्यमलोकपालेन दैवतपित्रतिथिक्रियार्थं साऽन्वगात् ययौ उपपन्नया तया साक्षाच्छ्रद्धयेव बभौ च।)

अर्थ भूलोक के पालन करने वाले राजा दिलीप देवता, पितर और अतिथि लोगों के कार्य (यज्ञ, श्राद्ध भोजनादि) साधने वाली, उस धेनु के पीछे-पीछे चले, और सज्जनों के द्वारा पूजित उनसे युक्त, वह (नन्दिनी) भी सज्जनों के [illegible] अनुष्ठान से युक्त श्रद्धा [illegible] सुशोभित होती है वैसी सुशोभित होने लगी।। १६।।

स पल्वलोत्तीर्णवराहयूथान्यावासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि।
ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्।। १७।।

अ० सः, पल्वलोत्तीर्णवराहयूथानि, आवासवृक्षोन्मुखबर्हिणानि, मृगाध्या सितशाद्वलानि, श्यामायमानानि वनानि, पश्यन् तेन ययौ

अर्थ- वह राजा दिलीप छोटे-छोटे तालाबों से निकले हुए बनैले सूअरों के झुण्डवाले, अपने-अपने आवास वृक्ष की तरफ जाने के लिए' उन्मुख मयूरों वाले तथा हरिण जिन पर बैठे हुए हैं ऐसे घासों से हरे प्रदेशवाले 'अत एव रात्रौ' श्याम वर्णों को देखते हुए जाने लगे।। १७।।

आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद् वपुर्गुरुत्वाच्च नरेन्द्रधेनुः।
उभावलञ्चक्रतुरर्पिताभ्यां सपीवनावृत्तिपथं गताभ्याम्।। १८।।

अ० वपुः, नरेन्द्र, (च), उभौ, आपीनभारोद्वहनप्रयत्नाद्, वपुषः, गुरुत्वाद्, (च), अर्पिताभ्यां, गताभ्यां सपीवनावृत्तिपथम्, अलञ्चक्रतुः

अर्थ- पहली बार की ब्याई हुई नन्दिनी और राजा दिलीप इन दोनों के क्रम से [illegible] थनों के भार के वहन करने में प्रयास करने तथा (राजा दिलीप ने) शरीर की स्थूलता के कारण अपने सुन्दर गमन से [illegible] चलने के मार्ग को सुशोभित किया।। १८।।

वसिष्ठधेनोरनुयायिनं तमावर्तमानं वनिता वनान्तात्।
पपौ निमेषालसपक्ष्मपंक्तिरुपोषिताभ्यामिव लोचनाभ्याम्।। १९।।

अ० वसिष्ठधेनोः अनुयायिनं, वनान्तात्, आवर्तमानं तं, वनिता, निमेषालस पक्ष्मपङ्क्तिः (सती), लोचनाभ्याम्, इव, पपौ। वा अनुयायी वनान्तात् वर्तमानः तं वनिता निमेषालसपक्ष्मपङ्क्त्या (सत्या) पपौ।

अर्थ- वसिष्ठ महर्षि की गई व्याई हुई नन्दिनी नाम की धेनु के पीछे-पीछे चलने वाले तपोवन के प्रान्त भाग से लौटते हुए उस राजा दिलीप को स्नेह करने वाली रानी सुदक्षिणा ने नेत्र के बन्द करने में आलसी बरौनियों वाली होती हुई (अर्थात् एक टक से) भूखे की भाँति से पिया अर्थात् देखा।। १९।।

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुर्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या।। २०।।

अ० वर्त्मनि, पार्थिवेन, पुरस्कृता, पार्थिवधर्मपत्न्या, प्रत्युद्गता, सा, धेनुः, तदन्तरे दिनक्षपामध्यगता, सन्ध्या, इव, विरराज।

अर्थ- मार्ग में राजा दिलीप द्वारा आगे की गई और उनकी पटरानी सुदक्षिणा से आगे जाकर ली हुई (अगवानी की गई) वह नन्दिनी सुदक्षिणा और दिलीप के बीच में दिन-रात के मध्य में स्थित सन्ध्याकाल की भांति शोभित हुई।। २०।।

प्रदक्षिणीकृत्य पयस्विनीं तां सुदक्षिणा साक्षतपात्रहस्ता।
प्रणम्य चानर्च विशालमस्या शृङ्गान्तरं दारमिवार्थसिद्धेः।। २१।।

अ० साक्षतपात्रहस्ता, सुदक्षिणा, पयस्विनीं, तां, प्रदक्षिणीकृत्य, प्रणम्य च, अस्याः विशालं, शृङ्गान्तरम्, अर्थसिद्धेः, दारम्, इव, आनर्च।

अर्थ- अक्षतों से युक्त पात्र को हाथ में लिये रानी सुदक्षिणा ने उत्तम दूध वाली उस नन्दिनी की प्रदक्षिणा तथा वन्दना करके उसके चौड़े, दोनों सींगों के मध्यभाग का, पुत्रप्राप्ति रूप प्रयोजन सिद्ध होने के द्वार की भांति जानकर पूजन किया।। २१।।

वत्सोत्सुकापि स्तिमिता सपर्यां प्रत्यग्रहीत्सेति ननन्दतुस्तौ।
भक्त्योपपन्नेषु हि तद्विधानां प्रसादचिह्नानि पुरःफलानि।। २२।।

अ० सा वत्सोत्सुका अपि, स्तिमिता 'सती' सपर्यां, प्रत्यग्रहीत् इति ते, ननन्दतुः, भक्त्या उपपन्नेषु, तद्विधानां, प्रसादचिह्नानि, पुरःफलानि, हि

अर्थ- नन्दिनी ने उस अपने बछड़े को देखने के लिए उत्कण्ठायुक्त होने पर भी स्थिर होते हुए 'सुदक्षिणा द्वारा किए गये' पूजन को स्वीकार किया। वे दोनों सुदक्षिणा और दिलीप प्रसन्न हुए। क्योंकि- अपने में अनुराग रखनेवाले जनों के विषय में नन्दिनी के समान बड़े लोगों की प्रसन्नता का चिन्ह, निश्चय से शीघ्र अभीष्टसिद्धि करने वाला होता है।। २२।।

गुरोः सदारस्य निगृह्य पादौ समीप्य सान्ध्यञ्च विधिं दिलीपः।
दोहावसाने पुनरेव दोग्ध्रीं भेजे भुजोच्छिन्नरिपुर्निषण्णाम्।। २३।।

अ० भुजोच्छिन्नरिपुः, दिलीपः, सदारस्य, गुरोः, पादौ, निगृह्य, सान्ध्यं, विधिं, च समाप्य, दोहावसाने, निषण्णां दोग्ध्रीमेव पुनर्भेजे।

अर्थ- बाहुओं से शत्रुओं को नष्ट करने वाले राजा दिलीप पत्नी सहित गुरु का चरण दबाकर, अपने सायंकालिक नित्यकृत्य समाप्त करने के पश्चात्, दूध दुह चुकने के बाद सुखपूर्वक बैठी हुई नन्दिनी की फिर सेवा करने लगे।। २३।।

तामन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपामन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः।
क्रमेण सुप्तामनुसंविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्।। २४।।

अ० गोप्ता, गृहिणीसहायः (सन्), अन्तिकन्यस्तबलिप्रदीपां, ताम्, अन्वास्य, क्रमेण, सुप्ताम्, अनुसंविवेश, प्रातः सुप्तोत्थिताम्, अनु, उदतिष्ठत्।

अर्थ- रक्षा करने वाला, सुदक्षिणा के सहित राजा दिलीप, जिसके समीप में उपहार सम्बन्धी दीप रख दिये गये हैं ऐसी उस बैठी हुई नन्दिनी के पश्चात् बैठकर क्रम से उस (नन्दिनी) के सोने के अनन्तर सोये और प्रातः काल उसके सोकर उठ जाने के बाद उठे।। २४।।

इत्थं व्रतं धारयतः प्रजार्थं समं महिष्या महनीयकीर्तेः।
सप्त व्यतियुस्त्रिगुणानि तस्या दिनानि दीनोद्धरणोचितस्य।। २५।।

अ०- इत्थं प्रजार्थं महिष्या, समं, व्रतं, धारयतः महनीयकीर्तेः, दीनोद्धरणोचितस्य, तस्य, त्रिगुणानि, सप्तदिनानि व्यतीयुः। वा० सप्तत्रिंशोऽगुणोदिनैर्व्यतीयते।

अर्थ- इस प्रकार पुत्र के लिए महारानी सुदक्षिणा के साथ नियम को धारण करते हुए प्रशंसनीय कीर्तिवाले दीनों के उद्धार करने में लगे हुए महाराज दिलीप के तिगुने सात (इक्कीस) दिन बीत गये।। २५।।

अन्येद्युरात्मनुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः।
गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरोर्गह्वरमाविवेश।। २६।

अ०- अन्येद्युः, मुनिहोमधेनुः, आत्मानुचरस्य, भावं, जिज्ञासमाना, गंगा प्रपातान्तविरूढशष्पं, गौरीगुरोः, गह्वरं, आविवेश।

अर्थ- दूसरे (बाइसवें) दिन वसिष्ठ की होमसम्बन्धी धेनु (नन्दिनी) अपने सेवक राजा दिलीप के 'मुझ में दृढ़ भक्ति है या नहीं' इस भाव को जानने की इच्छा रखती हुई गंगा के जलप्रपात के समीप उगी हुई है छोटी-छोटी घास जिसमें ऐसी पार्वती के पिता (हिमालय) की गुफा में घुसी।। २६।।

सा दुष्प्रधर्षा मनसाऽपि हिंस्रैरित्यादिशोभाप्रहितेक्षणेन।
आलक्षिताभ्युत्पतनो नृपेण प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष।। २७।।

अ०- सा, हिंस्रैः, मनसा अपि, दुष्प्रधर्षा, इति आदिशोभाप्रहितेक्षणेन, नृपेण, आलक्षिताभ्युत्पतनः, सिंहः, प्रसह्य, सहसा, चकर्ष किल।

अर्थ- 'यह नन्दिनी हिंसक व्याघ्रादि दुष्ट जीवों द्वारा मन से भी बड़ी कठिनाई से कष्ट पहुंचाने के योग्य है' इस ओर से निश्चिन्त हो हिमालय की शोभा देखने में दृष्टि को लगाये हुए राजा दिलीप के द्वारा जिसका आक्रमण करना नहीं देखा गया। ऐसा मायारूप सिंह झपाटे उस नन्दिनी को बनावटी ढंग से खींचने लगा।। २७।।

तदीयमाक्रन्दितमार्तसाधोर्गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घम्।
रक्षाधिकारादाय नरेन्द्रशक्तो निवर्तयामास नृपस्य दृष्टिम्।। २८।।

अ०- गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घं, तदीयम्, आक्रन्दितम् आर्तसाधोः, नृपस्य नरेन्द्रशक्तौ, दृष्टिं, रक्षिषु, आदाय, सत्, निवर्तयामास। (गुहानिबद्धप्रतिशब्ददीर्घेण तदीयेन आक्रन्दितेन नरेन्द्रशक्तेः दृष्टिर्निवर्तिता बभूव।)

अर्थ- गुफा में एकत्रित हुई प्रतिध्वनि से ऊँचे हुए उस (नन्दिनी) के आर्तनाद ने दूसरों की रक्षा में समर्थ (रक्षक) राजा दिलीप की हिमालय पर्वत (की शोभा देखने) में लगी हुई दृष्टि को लगाम पकड़कर जैसे कोई घोड़े आदि को वापस फेर लेता है वैसे ही अपनी ओर फेर लिया।। २८।।

स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श।
अधित्यकायामिव धातुमय्यां लोध्रद्रुमं सानुमतः प्रफुल्लम्।। २९।।

अ०- धनुर्धरः, सः, पाटलायां, गवि, तस्थिवांसं, केसरिणं, सानुमतः, धातुमय्यां, अधित्यकायाम्, प्रफुल्लं, लोध्रद्रुमम्, इव ददर्श।

अर्थ- धनुष को धारण करने वाले उन राजा दिलीप ने श्वेतयुक्त लालवर्ण वाली नन्दिनी के ऊपर बैठे हुए सिंह को पर्वत की गैरिक धातुमयी ऊँची भूमि में उगे हुए लोध्रवृक्ष की भांति देखा।। २९।।

तनो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी व्यधत्त वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गौ नृपतेर्निषंगादुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः।। ३०।।

अ०- तनोः, मृगेन्द्रगामी, शरण्यः, प्रसभोद्धृतारिः, नृपतेः, जाताभिषंगः, सन्, वध्यस्य, मृगेन्द्रस्य, तनोः, निषंगात्, शरम्, उद्धर्तुम्, ऐच्छत्।

अर्थ- सिंह के दर्शन के बाद नृसिंह की तरह चलने वाला, रक्षा करने में निपुण, शत्रुओं को बलपूर्वक उखाड़ने वाले अपमान पाये हुए, राजा दिलीप ने सिंह को मारने के लिये तरकस से बाण निकालने की इच्छा की।। ३०।।

वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्निखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे।
सक्काङ्गुलिः सायकपुंख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे।। ३१।।

अ०- प्रहर्तुः, तस्य, वामेतरः, करः, नखप्रभाभूषितकंकपत्रे, सायकपुंखे, एव सक्काङ्गुलिः 'सन्' चित्रार्पितारम्भः, इव अवतस्थे।

अर्थ- प्रहार करने वाले उन राजा दिलीप का दाहिना हाथ, अपने नख की कान्ति से भूषित, कंक पक्षी के पंख जिसमें लगे हुए हैं ऐसे बाण के मूलप्रदेश में ही लगी हुई है अंगुलियां जिसकी ऐसा होता हुआ, चित्र में लिखे हुए बाण निकालने के उद्योग में लगे हुए की भांति हो गया।। ३०।।

बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्यूरभ्यर्णभागस्थकृत्तभस्पृशादिभः।
राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः।। ३२।।

अ०- बाहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः, राजा, मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः, भोगी, इव, अभ्यर्णग, आगस्कृतम्, अस्पृशद्भिः, स्वतेजोभिः, अन्तर्, अदह्यत।

अर्थ- बाहुस्तम्भन प्रवृद्धरोषो दिलीपः समीपस्थमप्यपराधकारिणं सिंह हन्तुमसमर्थो मन्त्रौषधिसंरुद्धपराक्रम जिसका ऐसे सांप की भांति समीप में (स्थित) अपराधों को करने वाले का नहीं स्पर्श करते हुए अपने तेज से भीतर जलने लगे।

तमार्यगृह्यं निगृहीतधेनुर्मनुष्यवाचा मनुवंशकेतुम्।
विस्मापयन्विस्मितसारमवृत्तौ सिंहोरुसत्त्वं निजगाद सिंहः।। ३३ ।

अ०- निगृहीतधेनुः, सिंहः, आर्यगृह्यं, मनुवंशकेतुं, सिंहोरुसत्त्वम्, आत्मवृत्तौ, विस्मितं, मनुष्यवाचा, विस्मापयन् निजगाद। (निगृहीतधेनुना, सिंहेनार्यगृह्यो मनुवंशकेतुः सिंहोरुसत्त्वो विस्मितः सन् विस्मापयता निजगादे।)

अर्थ- नन्दिनी को पीड़ित किया हुआ सिंह राजऋषि के पक्ष में रहने वाले मनुवंश के द्योतक सिंह के समान महान् बलवान् अपने बाहुस्तम्भरूप व्यापार के विषय में चकित हुए उस राजा दिलीप को मनुष्यवाणी से पुनः चकित करता हुआ बोला।। ३३।।

अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्।
न पादपोन्मूलनशक्ति रंहः शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य।।३४।।

अ०- महीपाल ! तव, श्रमेण, अलम्, इतः, प्रयुक्तम् अपि, अस्त्रं, वृथा, स्यात्, पादपोन्मूलनशक्ति, मारुतस्य, रंहः, शिलोच्चये न, मूर्च्छति।

अर्थ- हे पृथ्वी के पालन करने वाले महीपाल दिलीप ! आपका श्रम करना वृथा है, अतः रहने दीजिये क्योंकि मेरे ऊपर चलाया हुआ अस्त्र भी वैसा ही व्यर्थ होगा जैसा कि पेड़ों को उखाड़ने की शक्ति रखने वाले वायु का वेग पर्वत के विषय में व्यर्थ होता है।' ३४।।

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम्।। ३५।।

अ०- कैलासगौरं वृषम्, आरुरुक्षोः, अष्टमूर्तेः, पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठं, निकुम्भमित्रं, कुम्भोदरं नाम, किंकरम्, माम्, अवेहि।

अर्थ- हे राजन् ! कैलासपर्वत के तुल्य श्वेत बैल पर चढ़ने की इच्छा करने वाली आठ (पृथ्वी-जल तेज वायु आकाश-सूर्य-चन्द्र-सोमयाजी) हैं मूर्तियां जिनकी ऐसे शिवजी के चरण रखने रूप अनुग्रह से पवित्र पीठवाला, निकुम्भ (शिवजी का प्रसिद्ध गण) का मित्र, 'कुम्भोदर' नाम से प्रसिद्ध 'शिवजी का' नौकर मुझे तुम जानो।। ३५।।

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुं पुत्रीकृतोऽसौ वृषभध्वजेन।
यो हेमकुम्भस्तननिःसृतानां स्कन्दस्य मातुः पयसां रसज्ञः।। ३६।।

अ०- पुरः, अमुं देवदारुं, पश्यसि, असौ, वृषभध्वजेन, पुत्रीकृतः, यः, हेमकुम्भस्तननिःसृतानां पयसां, रसज्ञः 'अस्ति'। अ०- असौ देवदारुतयया दृश्यते, अमुंवृषभध्वजः पुत्रीकृतवान्, येन स्वराजेन भूयते।

अर्थ- हे राजन् तुम जो आगे स्थित इस देवदारु के वृक्ष को देख रहे हो इसे शंकरजी ने पुत्र माना है और जो कार्त्तिकेय की मां पार्वतीजी के सोने के घड़ों रूपी स्तनों से निकले हुए दूध रूपी जल के स्वाद को जाननेवाला है, स्कन्दपक्ष में सोने के घड़े के समान स्तनों से निकले हुए दूध के स्वाद को जाननेवाला है।। ३६।।

कण्डूयमानेन कटं कदाचिद्वन्यद्विपेनोन्मथिता त्वगस्य।
अथैनमद्रेस्तनया शुशोच सेनान्यमालीढमिवासुरास्त्रैः।। ३७।।

अ०- कदाचित्, कटं, कण्डूयमानेन, वन्यद्विपेन, अस्य, त्वग् उन्मथिता अथ, अद्रेः, तनयाः असुरास्त्रैः, आलीढं, सेनान्यम्, इव, एनं, शुशोच।

अर्थ- किसी समय गण्डस्थल को रगड़ते हुए किसी जंगली हाथी ने इस देवदारुवृक्ष की छाल उधेड़ डाली, इसके बाद पार्वतीजी ने दैत्यों के अस्त्रों से चोट खाये हुए अपने पुत्र स्कन्द के समान इसके सम्बन्ध में भी शोक किया।। ३७।।

तदाप्रभृत्येव वनद्विपानां त्रासार्थमस्मिन्नहमद्रिकुक्षौ।
व्यापारितः शूलभृता विधाय सिंहत्वमंकागतसत्त्ववृत्तिं।। ३८।।

अ०- तदाप्रभृति, एव वनद्विपानां, त्रासार्थं, शूलभृता, अंकागतसत्त्ववृत्तिं, सिंहत्वं, विधाय, अस्मिन्, अद्रिकुक्षौ, अहं, व्यापारितः।

अर्थ- उसी समय से जंगली हाथियों को डराने के लिये, शूल को धारण करने वाले श्रीशिवजी ने समीप में आये हुए प्राणियों पर निर्वाह करानेवाली सिंहवृत्ति देकर मुझे इस पहाड़ की गुफा में नियुक्त किया है।। ३८।।

तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव।। ३९।।

अ०- परमेश्वरेण, प्रदिष्टकाला, उपस्थिता, एषा, शोणितपारणा, सुरद्विषः, चान्द्रमसी, सुधा, इव, क्षुधितस्य, मे तृप्त्यै अलम् अस्ति।

अर्थ- शिवजी के बताये हुये भोजन के समय पर उपस्थित यह गोरूप रुधिर सम्बन्धी व्रत के समाप्ति समय का भोजन दैत्य राहु के लिए चंद्रसंबंधी अमृत की भांति, उसको अर्थात् समीप में आये हुए प्राणियों को खाकर जीवन निर्वाह करने वाले भूखे हुए मुझ सिंह की तृप्ति के लिए पर्याप्त (पूरा) होगा।। ३९।।

स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान्दर्शितशिष्यभक्तिः।
शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति।। ४०।।

अ०- सः, त्वं, लज्जां, विहाय, निवर्तस्व, भवान् गुरोः, दर्शितशिष्यभक्तिः 'अस्ति' यद्, रक्ष्यं, शस्त्रेण, अशक्यरक्षं, तद्, शस्त्रभृतां, यशः न क्षिणोति।

अर्थ- उपाय से शून्य पूर्वोक्त तुम लज्जा को छोड़कर लौट जाओ। तुमने गुरु के सम्बन्ध में शिष्ट के योग्य भक्ति दिखला दी। जो रक्षा करने योग्य वस्तु शस्त्र से रक्षा करने के योग्य नहीं होती वह नष्ट होती हुई भी शस्त्रधारी की कीर्ति को नष्ट नहीं करती।। ४०।

इति प्रगल्भं पुरुषाधिराजो मृगाधिराजस्य वचो निशम्य।
प्रत्याहृतास्त्रो गिरिशप्रभावादात्मन्यवज्ञां शिथिलीचकार।। ४१।।

अ०- पुरुषाधिराजः, इति, प्रगल्भं, मृगाधिराजस्य, वचः, निशम्य, गिरिशप्रभावात्, प्रत्याहृतास्त्रः, 'सन्' आत्मनि, अवज्ञां शिथिलीचकार।

अर्थ- नराधिप दिलीप ने इस प्रकार से ढीठ सिंह के वचन को सुनकर शंकर के प्रभाव से अपने अस्त्र की गति रुकी हुई जानकर अपने विषय में अपमान के भाव को शिथिल कर दिया, अपना अपमान नहीं समझा।। ४१।।

प्रत्यब्रवीच्चैनमिषुप्रयोगे तत्पूर्वभंगे वितथप्रयत्नः।
जडीकृतस्त्र्यम्बकवीक्षणेन वज्रं मुमुक्षन्निव वज्रपाणिः।। ४२।।

अ०- तत्पूर्वभंगे, इषुप्रयोगे, वितथप्रयत्नः, 'अत एव' वज्रं, मुमुक्षन्, त्र्यम्बकवीक्षणेन, जडीकृतः, वज्रपाणिः, इव, 'सिंहः' एनं प्रत्यब्रवीत्, च।

अर्थ- पहले पहल हुई है रुकावट जिसकी ऐसे बाण के चलाने में निष्फल प्रयत्न वाले अत एव शंकर भगवान् के नेत्र से ही निश्चेष्ट किये हुए वज्र का प्रहार करने की इच्छा करने वाले वज्र है हाथ में जिसके ऐसे इन्द्र के समान स्थित राजा दिलीप इस सिंह के प्रत्युत्तर में बोले।। ४२।।

संरुद्धचेष्टस्य मृगेन्द्र ! कामं हास्यं वचस्तद्यदहं विवक्षुः।
अन्तर्गतं ज्ञास्यसि भूतमार्यभावान्मतोऽभिधास्ये।। ४३।।

अ०- हे मृगेन्द्र ! 'संरुद्धचेष्टस्य, मम' तत्, वचः, कामं हास्यम्, 'अस्ति' यद् 'वचः' अहं, विवक्षुः, 'अस्मि' हि, भवान्, मनोऽन्तर्गतं, सर्वं, भावं, वेद, अतः, अभिधास्ये। पा०-तेन वचसा हास्येन 'भूयते' मया विवक्षुणा 'भूयते' अन्तर्गतः सर्वो भावो भवता विदितस्तेनाभिधास्यते।

अर्थ- हे सिंह ! यद्यपि रुकी हुई है चेष्टा जिसकी ऐसे मुझ दिलीप का वह वचन अत्यन्त परिहास करने के योग्य है जिसे मैं कहने की इच्छा करने वाला हो रहा हूँ तथापि आप सभी जीवों के हृदय के भाव जानते हैं, इससे कहूंगा।। ४३।।

मान्यः स मे स्थावरजंगमानां सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुः।
पुरोरगीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत्पुरस्तादनुपेक्षणीयम्।। ४४।।

अ०- स्थावरजंगमानां, सर्गस्थितिप्रत्यवहार हेतुः, सः, मे, मान्यः, पुरस्तात्, नश्यत्, इदम्, आहिताग्नेः, धनम्, अपि, अनुपेक्षणीयम्। (सर्गस्थितिप्रत्यवहारहेतुना तेन मे मान्येन 'भूयते' पुरस्ताद् नश्यताऽनेन धनेनाप्यनुपेक्षणीयेन 'भूयते'।)

अर्थ स्थावर (वृक्ष-पर्वत-आदि) और जंगम (मनुष्यादिकों) की उत्पत्ति, पालन और संहार करने में कारण वे श्रीशिवजी मेरे पूज्य हैं (अर्थात् उनकी आज्ञा माननीय है) और आगे नष्ट होता हुआ यह अग्निहोत्र करने वाले गुरु वसिष्ठ महाराज का गोरूप धन भी उपेक्षा करने के योग्य नहीं है (अर्थात् इसकी रक्षा करनी चाहिये)।। ४४।।

स त्वं मदीयेन शरीरवृत्तिं देहेन निर्वर्तयितुं प्रसीद।
दिनावसानोत्सुकबालवत्सा विसृज्यतां धेनुरियं महर्षेः।। ४५।।

अ०- सः, त्वं, मदीयेन, देहेन, शरीरवृत्तिं, निर्वर्तयितुं, प्रसीद, दिनावसानोत्सुकबालवत्सा, महर्षेः, इयं, धेनुः, विसृज्यताम्। या०- तेन त्वया मदीयेन देहेन शरीरवृत्तिं निर्वर्तयितुं प्रसादतां, दिनावसानोत्सुकबालवत्सां महर्षेरिमां धेनुं निसृज।

अर्थ- समीप में आये हुए प्राणियों पर अपना जीवन निर्वाह करने वाले (ऐसे) तुम मेरे शरीर से अपने शरीर का जीवन रखने के लिये अनुग्रह करो, (गौ के बदले मुझे खालो) और दिन के समाप्त होने पर 'हमारी मां आती होगी' इससे उत्कण्ठित छोटे बछड़े वाली महर्षि वसिष्ठ की इस धेनु 'नन्दिनी' को छोड़ो।। ४५।।

अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्।
भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्ती किंचिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे।। ४६।।

अ०- अथ, भूतेश्वरपार्श्ववर्ती, सः, गिरिगह्वराणाम्, अन्धकारं, दंष्ट्रमयूखैः, शकलानि, कुर्वन्, किंचित्, विहस्य, अर्थपतिं, भूयः, बभाषे।

अर्थ- दिलीप के कह चुकने के बाद भगवान् शंकर के पास का रहने वाला वह सिंह हिमालय पर्वत की गुफाओं के अन्धकार को दाँतों की कान्ति से टुकड़े-टुकड़े करता हुआ कुछ हंसकर दिलीप से फिर बोला।। ४६।।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहुहातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।। ४७।।

अ०- एकातपत्रं, जगतः, प्रभुत्वं, नवं, वयः, इदं, कान्तंवपुः, च 'एतत्सर्वं बहु अल्पस्य, हेतोः हातुम्, इच्छन्, त्वं विचारमूढः, मे प्रतिभासि।

अर्थ- एकच्छत्र, संसार की प्रभुता, नवीन युवावस्था और यह सुंदर शरीर इन सब बहुतों को थोड़े से नन्दिनीय रूप फल के लाभ के कारण से छोड़ने की इच्छा करते हुए तुम 'क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये' इसके विचार करने में मुझे मूर्ख मालूम पड़ते हो।। ४७।।

भूतानुकम्पा तव चेदियं गौरेका भवेत्स्वस्तिमती त्वदन्ते।
जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ ! पितेव पासि।। ४८।।

अ० तव भूतानुकम्पा चेत् 'तर्हि' त्वदन्ते 'सति' इयम्, एका, गौः, स्वस्तिमती, भवेत्, प्रजानाथ ! जीवन्, पुनः, पिता, इव, प्रजाः, उपप्लवेभ्यः, शश्वत्, पासि। या० तव भूतानुकम्पया चेद् 'भूयते तर्हि' अनयैकया गवा स्वस्तिमत्या भूयेत 'त्वया' जीवता पुनः पित्रेव प्रजाः गायन्ते।

अर्थ- हे राजन् ! यदि तुम्हारी प्राणियों पर दया है, तो तुम्हारे मर जाने पर केवल यही एक गौ कल्याण से युक्त हो सकती है। हे प्रजाओं के स्वामी महाराज दिलीप ! आप जीते हुए निश्चय ही पिता के समान प्रजाओं की विघ्नों से निरन्तर रक्षा कर सकते हैं।। ४८।।

अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।
शक्योऽस्य 'मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः।। ४९।।

अ०- अथ, एकधेनोः, अपराध चण्डात्, कृशानुप्रतिमात्, गुरो बिभेषि, 'त्वम्' अस्य, मन्युः, घटोघ्नीः कोटिशः, गाः, स्पर्शयता, भवता, विनेतुं, शक्यः।

अर्थ- अथवा हे राजन् ! एक ही है धेनु जिसके अत एव नो की रक्षा न करने रूप अपराध होने से अत्यन्त क्रुद्ध हुए अग्नि के तुल्य अपने गुरु वसिष्ठ जी से यदि तुम डरते हो तो, उनके क्रोध को घड़े के समान बड़े-बड़े स्तनों वाली करोड़ों गायों को देते हुए दूर करने में समर्थ हो।। ४९।।

तद्रक्ष कल्याणपरम्परायाः भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्।
महीतलस्पर्शनमात्रभिन्न-मूर्वं हि राज्यं पदमैन्द्रमाहुः।। ५०।।

अ०- तत्, कल्याणपरम्परायाः, भोक्तारम्, ऊर्जस्वलम्, आत्मदेहं, रक्ष, हि, ऊर्वं, राज्यं, महीतलस्पर्शनमात्रभिन्नम्, पदम् ऐन्द्रम् आहुः।

अर्थ- इस कारण हे राजन् ! तुम उत्तरोत्तर सुखों को भोग करने वाले अत्यन्त बल से युक्त अपने शरीर की रक्षा करो क्योंकि विद्वान् लोग समृद्धिशाली राज्य को केवल पृथ्वीतल का स्पर्श होने से आधा हुआ इन्द्रसम्बन्धी स्थान (स्वर्ग) कहते हैं।। ५०।।

एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव।। ५१।।

अ०- मृगेन्द्रे, एतावत्, उक्त्वा, विरते, 'सति' गुहागतेन, अस्य, प्रतिस्वनेन, शिलोच्चयः, अपि, प्रीत्या, तम्, एव अर्थं, क्षितिपालम्-उच्चैः, उवाच इव।

अर्थ- सिंह के इतना कहकर चुप हो जाने पर गुफा में पहुंची हुई इसकी प्रतिध्वनि द्वारा पर्वत भी प्रेम से मानो उस बात को राजा दिलीप से जोर से कहने लगा।।

निशम्य देवानुचरस्य वाचं मनुष्यदेवः पुनरप्युवाच।
धेनो तदध्यासितकातराक्षी निरीक्षमाणः सुतरां दयालुः।। ५२।।

अ०- देवानुचरस्य च वचं निशम्य, मनुष्यदेवः, पुनः, अपि, उवाच, 'किम्भूतः सन्' तदध्यासित कातराक्ष, धेनो निरीक्षमाणः 'अतएव' सुतरां, दयालुः, 'सन्'।

अर्थ- शंकर भगवान् के नौकर (सिंह) की वाणी सुनकर मनुष्यों के राजा (वे दिलीप) फिर भी (उसकी) ओर, जो कि उस सिंह के द्वारा आक्रान्त होने से आकुल नेत्रों वाली नन्दिनी से देखे जाते हुए अत एव अत्यन्त दयालु हो रहे थे। बोले।

क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।
राज्येन किं तद्विपरीतवृत्तेः प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा।। ५३।।

अ०- उदग्रः, क्षत्रस्य, शब्दः क्षतात्, त्रायते, इति 'व्युत्पत्त्या भुवनेषु' रूढः किल, तद्विपरीतवृत्तेः, राज्येन, किम्, उपक्रोशमलीमसैः प्राणैः, वा 'किम्'।

अर्थ- उन्नत जो क्षत्रियवर्ण का वाचक क्षत्र शब्द है सो 'क्षत् अर्थात् नाश से जो बचावे वह क्षत्रिय कहलाता है' इस व्युत्पत्ति से संसार में 'राजा' की उच्च योगरूढि से प्रसिद्ध है, अतः उस क्षत्र शब्द से विपरीत व्यापार करनेवाले अर्थात् नाश से नहीं रक्षा करने वाले गुरुरूप के राज्य और अपकीर्ति से मलिन हुए प्राण (जीवन) ये दोनों व्यर्थ है।।५३।।

कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्या-न्यगयारिधेनोः।
इत्यामनन्तं सुरभेरवेहि रुद्रौजसा तु प्रहृतं त्वयाऽस्याम्।। ५४।।

अ०- महर्षेः अनुनयः, च अन्यपयस्विनीनां, विश्राणनात्, कथं, नु, शक्यः, इति सुरभेः, अनुनाग, अवेहि, अस्यां, त्वया प्रहृतं, तु रुद्रौजसा।

अर्थ- और महर्षि वसिष्ठ जी के क्रोध की शान्ति दूसरी दूध देने वाली गायों के देने से किस प्रकार हो सकती है 'अर्थात् कभी नहीं हो सकती है' क्योंकि इसे कामधेनु से कम नहीं समझना चाहिये 'अर्थात् तुल्य ही समझना चाहिये और इस के ऊपर जो तुमने आक्रमण किया है, उसे भी शंकर भगवान् की सामर्थ्य से ही हुआ समझना चाहिये न कि अपनी सामर्थ्य से।।

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवतः।
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः।। ५५।।

अ०- सा, इयं, मम, स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण, भवतः, मोचयितुं, न्याय्या, एवं, 'सति' तव, पारणा विहता न स्यात्, मुनेः क्रियार्थः च अलुप्तः, भवेत्।

अर्थ- कामधेनु के तुल्य इस नन्दिनी को मेरा अपने शरीरार्पण रूप निष्क्रय के द्वारा आप से छुड़ाना न्यायसङ्गत है

ऐसा करने पर आपके व्रत के अन्त का भोजन (पारण) भी नष्ट नहीं होगा और वरिष्ठ महर्षि का होमादि रूप प्रयोजन भी नष्ट नहीं होगा।। ५५।

शंसन्यमीदं परधानधैर्यान् हि यत्नस्तव देवदारौ।
स्थातुं नियोक्तुर्न हि शक्नुयाग्रे विनाश्य रक्ष्यं स्वयमक्षतेन।। ५६।

अ०- पत्युः, भगवान्, अपि, इदम्, आवेदति, हि, त्व, देवदारौ, महान्, यत्नः, रक्षायै, विनाश्य, अक्षतेन, नियोक्तुः, अग्रे, स्थातुम्, शक्नुयात्, न, हि।

अर्थ- पराधीन होते हुये आप भी इस (आगे कही जाने वाली) बात को जानते हैं, क्योंकि आपका देवदारु के विषय में 'रक्षा करने के लिये' बहुत भारी प्रयत्न है। 'अतः एव' रक्षा करने के योग्य वस्तु का नाश करके स्वयम् बिना नष्ट हुए होकर स्वामी के आगे उपस्थित होने के लिये समर्थ नहीं हो सकता।। ५६।।

किमप्यहेस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु।।५७।।

अ.- किमपि, अहं, इव, अहिंस्यः, मतः चेत्, तर्हि, मे, यशःशरीरे, दयालुः, भव, मद्विधानाम्, एकान्तविध्वंसिषु, भौतिकेषु, पिण्डेषु, अनास्था, खलु।

अर्थ- और यदि मैं तुम्हारे समझ में अवध्य हूँ तो तेरे यश रूपी शरीर के विषय में तुम दयायुक्त होओ, क्योंकि हमारे ऐसे लोगों की अवश्य नष्ट होने वाले पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश इन पांच महाभूतों से बने हुए शरीर में अपेक्षा नहीं रहती है। ५७।

सौहार्दाद्धिमनुशयनीदोऽसीत्याह

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुर्वृत्तः स नौ सप्तपदीनमन्ते
तत् भूतनाथानुग! नार्हसि त्वं सम्बन्धिनो मे प्रणयं विहन्तुम्।।५८।।

अ.-सम्बन्धम्, आभाषणपूर्वम्, आहुः, सः, मनान्ते, सप्तपदीनम्, नौ, वृत्तः, सत्, भूतनाथानुग!, त्वं, सम्बन्धिनः, मे, प्रणयं, विहन्तुं, न, अर्हसि।

या. सम्बन्ध आभाषणपूर्व उच्यते 'विहृत्ति', तेन वृत्तेन 'अभूवत' त्वया प्रणयं गाढ़यितुं।

अर्थ- सम्बन्ध (मैत्री) को जो बातचीत से उत्पन्न हुआ लोग कहते हैं, वह हमारे बीच में मिले हुए हम दोनों का हो चुका है, इस कारण हे शिवजी के अनुचर सिंह! तुम सम्बन्धी होकर मुझ दिलीप की प्रार्थना को विफल करने के लिये योग्य नहीं हो।।५८।।

तथेति गामुक्तवते दिलीपाय प्रतिष्ठमाविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत्पिण्डमिवामिषस्य।।५९।।

अ.-तथा इति, गाम्, उक्तवते, हरये, राज्ञः, प्रतिष्ठमानविमुक्तबाहुः, सः न्यस्तशस्त्रः, 'सन्' स्वदेहम्, आमिषस्य, पिण्डम् इव, उपानयत्।

अर्थ- 'वैसा ही हो' इस वचन को कहते हुए सिंह के लिए उसी क्षण में बन्धन से खुली बाहु वाले उस राजा दिलीप ने शस्त्र को त्यागने वाले होते हुए अपने शरीर को मांस के पिण्ड (ग्रास) के समान समर्पण कर दिया।।५९।।

तस्मिन् क्षणे पालयितुः प्रजानामुत्पश्यतः सिंहनिपातमुग्रम्।
अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात विद्याधरहस्तमुक्ता।।६०।।

अ. तस्मिन्, क्षणे, राज्ञः, सिंहनिपातम्, उत्पश्यतः, अवाङ्मुखस्य, प्रजाः पालयितुः, उपरि, विद्याधरहस्तमुक्ता, पुष्पवृष्टिः, पपात।

अर्थ- उस क्षण में उछलते सिंह के आक्रमण के विषय में विचार करते हुए नीचे को मुख किये प्रजाओं के पालन करने वाले राजा दिलीप के ऊपर विद्याधर नामक देवयोनिविशेषों के हाथों से छोड़ी गई फूलों की वर्षा हुई।।६०।।

उत्तिष्ठ वत्सेत्यमृतायमानं वचो निशम्योत्थितमुत्थितः सन्।
ददर्श राजा जननीमिव स्वां गामग्रतः प्रस्रविणीं न सिंहम्।।६१।।

अ.- राजा, अमृतायमानम्, उत्थितं, 'वत्स! उत्तिष्ठ इति वचः, निशम्य, उत्थितः, सन्, अग्रतः, प्रस्रविणीं, गां, स्वां, जननीम्, इव, ददर्श, सिंहं, न 'ददर्श'।

अर्थ- राजा दिलीप ने अमृत के समान (मीठेपन के गुण से) निकले हुए 'हे पुत्र! जाओ' इस वचन को सुनकर खड़े हुए आगे 'स्निग्ध' जीभवाले 'रत्नों से' दूध बह रहा है, ऐसी गौ (नन्दिनी) को अपनी माँ के समान देखा 'किन्तु' सिंह को नहीं देखा।।६१।

तं वीक्ष्यमेत धेनुरुवाच साधो! मायां मयोऽत्र परीक्षितोऽसि
ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः।।६२।

अ० वीक्ष्यमेतं, तं, धेनुः, उवाच, साधो!, मया, मायम्, अत्र, 'त्वम्' परीक्षित, असि, ऋषिप्रभावात्, मयि, अन्तकः अपि न प्रभुः, अन्यहिंस्राः, किमुत। वा-'वीक्ष्यमेतं' स धेन्वोवे अहं त्वाम् परीक्षितवत्यस्मि, अन्तकोऽपि प्रभुर्न 'भूयते' अन्यहिंस्राः।।

अर्थ- आश्चर्य से मुक्त उस राजा दिलीप से धेनु बोली कि- हे सज्जन महाराज दिलीप! मैंने माया को उत्पन्न कर तुम्हारी परीक्षा की थी, ऋषि वसिष्ठजी के प्रभाव से यमराज भी मुझ पर प्रहार करने के लिये समर्थ नहीं है, दूसरे हिंसक पशु तो और भी समर्थ नहीं हैं।।६२।।

भक्त्या गुरौ मय्यनुकम्पया च प्रीतास्मि ते पुत्र! वरं वृणीष्व।
न केवलानां पयसां प्रसूतिमवेहि मां कामदुघां प्रसन्नाम्।।६३।।

अ० पुत्र! गुरौ, भक्त्या, मयि, अनुकम्पया, च, ते, प्रीता, अस्मि, वरं, वृणीष्व, मां, केवलानां, पयसाम्, प्रसूतिं, न, अवेहि कामदुघां, 'मे' कामदुघाम्, 'अवेहि'।

अर्थ- हे पुत्र, वसिष्ठ महर्षि के विषय में भक्ति रखने से और मेरे विषय में दया रखने से मैं तुम पर प्रसन्न हूँ वर अभिलाषों को पूरी करने वाली भी जानो।।६३।।

तत्रः क्षमामीय रा मानितार्थी हरतो स्वहस्ताजितवीरशब्दः।
वंशस्य कर्त्तारमनन्तकीर्तिं सुदक्षिणायां तनयं ययाचे।।६४।।

अ० ततः मानितार्थी, स्वहस्ताजितवीरशब्दः, सः, हरतः, क्षमामीय, वंशस्यकर्त्तारम्, अनन्तकीर्तिं, तनयं, सुदक्षिणायां ययाचे।

अर्थ- उसके दान याचकों को सन्तुष्ट करनेवाले अपने हाथों से 'वीर' इस शब्द को प्राप्त करनेवाले उस राजा दिलीप ने बीसों हाथों को जोड़कर वंश को चलाने वाले अनन्तकीर्तिवाले पुत्र 'अपनी रानी' सुदक्षिणा में होने की प्रार्थना की।।६४।।

सन्तानकामाय तथेति कामं राज्ञे प्रतिश्रुत्य पयस्विनी सा।
दुग्ध्वा पयः पत्रपुटे मदीयं पुत्रोपभुङ्क्ष्वेति तमादिदेश।।६५।।

अ० सा, पयस्विनी, सन्तानकामाय, तस्मै, तथा, इति कामं, प्रतिश्रुत्य, पुत्र! मदीयं पयः, पत्रपुटे दुग्ध्वा, तमुपभुङ्क्ष्व इति, आदिदेश।

अर्थ- इस उत्तम दूधवाली नन्दिनी ने पुत्र चाहनेवाले राजा दिलीप से 'वैसा ही हो' ऐसी वरदान की प्रतिज्ञा करके हे पुत्र! मेरे दूध को पत्ते के दोने में दुह कर पी लो' ऐसी उन्हें आज्ञा दी।।६५।।

वत्सस्य होमार्थविधेश्च शेषमृषेरनुज्ञामधिगम्य मातः!।
औक्षस्यमिच्छामि तवोपभोक्तुं षष्ठांशमुर्व्या इव रक्षितायाः।।६६।।

मातः वत्सस्य, शेषं, होमार्थविधेः, च, 'शेषं' तव, औक्षस्यं, रक्षितायाः, उर्व्याः, षष्ठांशम् इव, ऋषेः, अनुज्ञाम् अधिगम्य, उपभोक्तुम् इच्छामि।

अर्थ- हे माँ! मैं बछड़े के पीने से तथा होमरूप प्रयोजन से अनुष्ठान (अग्नि होत्रादि) से बचे हुए तुम्हारे स्तनों से निकले हुए दूध का पालन की गई पृथ्वी के षष्ठांश (छठे भागरूप) की तरह ऋषि वसिष्ठ की आज्ञा प्राप्त करके पीना चाहता हूँ।।६६।।

इत्थं क्षितीशेन वसिष्ठधेनुर्विज्ञापिता प्रीततरा बभूव।
तदन्विता हैमवताच्च कुक्षेः प्रत्याययावाश्रममश्रमेण।।६७।।

अ० इत्थं, क्षितीशेन, विज्ञापिता, 'वसिष्ठधेनुः, प्रीततरा, बभूव, तदन्विता, हैमवतात्, कुक्षेः, श्रमेण, आश्रमम्, प्रति यायौ।

अर्थ- इस प्रकार से राजा दिलीप के प्रार्थना करने से वसिष्ठ महर्षि की धेनु नन्दिनी अत्यन्त प्रसन्न हुई और बछड़े से युक्त होती हुई हिमालय की गुफा से बिना परिश्रम के आश्रम की तरफ लौटी।।६७।।

तस्याः प्रसन्नेन्दुमुखः प्रसादं गुरुर्नृपाणां गुरवे निवेद्य।
प्रहर्षचिह्नानुमितं प्रियायै शशंस वाचा पुनरुक्तयेव।।६८।।

अ० प्रसन्नेन्दुमुखः, नृपाणां, गुरुः, प्रहर्षचिह्नानुमितं, तस्याः, प्रसादं, पुनरुक्तया, इव, वाचा, गुरवे, निवेद्य, पश्चात् प्रियायै अशंस

अर्थ- निर्मल चन्द्रमा की भाँति स्वच्छ मुखवाले राजाओं में श्रेष्ठ दिलीप ने अधिक प्रसन्नता को द्योतक मुख की जालिमा आदि चिन्हों से जिसका अनुमान हो रहा था, ऐसे उस नन्दिनी से वरदानरूपी अनुग्रह को हर्ष के जाननेवाले चिन्हों से कहने से पहले ही मालूम हो जाने से दुबारा कही जाती हुई वाणी की भाँति गुरुजी से निवेदन किया पश्चात् प्यारी पटरानी सुदक्षिणा से भी कहा।।६८।।

स नन्दिनीस्तन्यमनिन्दितात्मा सद्वत्सलो वत्सहुतावशेषम्।
पयौ वसिष्ठेन कृताभ्यनुज्ञः शुभ्रं यशो मूर्तमिवातितृष्णः।।६९।।

अ०- अनिन्दितात्मा, सद्वत्सलः, वसिष्ठेन, कृताभ्यनुज्ञः, सः, वत्सहुताशेषं, नन्दिनीस्तन्यं, शुभ्रं, मूर्तं, यशः इव, अतितृष्णः, 'सन्' पयौ।

अर्थ- प्रशंसनीय स्वभाववाले, सज्जनों से प्रेम रखने वाले, वसिष्ठ महर्षि की आज्ञा को प्राप्त किये हुए, उन राजा दिलीप ने बछड़े के पीने से तथा अग्निहोत्र से बचे हुए नन्दिनी के दूध को साफेद मूर्तिको धारण किये हुए यश की भाँति अधिक तृष्णा से युक्त होते हुए पिया।।६९।।

प्रातर्यथोक्तव्रतपारणान्ते प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं प्रयुज्य।
तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः।।७०।।

अ०- वशी, वसिष्ठः, प्रातः, यथोक्तव्रतपारणान्ते, प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनं, प्रयुज्य, तौ, दम्पती, स्वां, राजधानीं, प्रति, प्रस्थापयामास।

अर्थ- इन्द्रियों के ऊपर अपनी प्रभुता रखनेवाले (जितेन्द्रिय) वसिष्ठ महर्षि ने प्रातःकाल में पूर्वोक्त गोसेवा रूप व्रत की पारणा कर चुकने के बाद प्रस्थानकालोचित स्वस्त्ययन करके उन दोनों स्त्री-पुरुष सुदक्षिणा और दिलीप को उनकी राजधानी अयोध्या की तरफ भेजा।७०।।

प्रदक्षिणीकृत्य हुतं हुताशमनन्तरं भर्तुररुन्धती च।
धेनुं सवत्सां च नृपः प्रतस्थे सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः।।

अ०- नृपः, हुतं, हुताशं, भर्तुः अनन्तरम्, अरुन्धती, च सवत्सां, धेनुं च, प्रदक्षिणीकृत्य, सन्मङ्गलोदग्रतरप्रभावः 'सन्' प्रतस्थे।

अर्थ- राजा दिलीप ने आहुति दिये हुये अग्नि जी और रक्षा करनेवाले वसिष्ठ जी की प्रदक्षिणा कर चुकने के बाद उनकी पत्नी अरुन्धती तथा बछड़े के सहित नन्दिनी की भी प्रदक्षिणा करके अच्छे कल्याणमय प्रदक्षिणा आदि करने से बढ़े हुए तेज वाले होते हुए प्रस्थान किया।७१।।

श्रोत्राभिरामध्वनिना रथेन स धर्मपत्नीसहितः सहिष्णुः।
यत्रार्तबन्धुः सुखयत्यशेषैः पथः सुखेनैव पुरं मनोरथैः।।७२।।

अ०- धर्मपत्नीसहितः, सहिष्णुः, सः, श्रोत्राभिरामध्वनिना, उन्नतसुखेन, रथेन, सुखेन, पुरं, मनोरथैः, इव यत्र, अर्तबन्धुः, अयौ।

अर्थ- धर्मपत्नी सुदक्षिणा के सहित मार्गादि सम्बन्धी दुःखों के सहन करनेवाले उन राजा दिलीप के कानों को सुख देनेवाली है ध्वनि जिसकी तथा नीचे ऊँचे पत्थरों की ठोकर से जिसमें से नहीं गिर सकता, अतएव सुखप्रद रथ से जो सुनने से कानों को सुख देनेवाला है तथा प्रतिबन्ध के दूर हो जाने से आनन्ददायक है ऐसे अपने सफल हुए मनोरथ के समान सुखों को तय करने लगे।।७२।।

तस्याहितौत्सुक्यमदर्शनेन प्रजाः प्रजार्थव्रतकर्शितस्य।
नेत्रैः पपुस्तृप्तिमनाप्नुवद्भिर्नवोदयं नाथमिवौषधीनाम्।।७३।।

अ०- अदर्शनेन, आहितौत्सुक्याः, प्रजाः, प्रजार्थव्रतकर्शितस्य, नवोदयं, प्रजाः, तृप्तिम्, अनाप्नुवद्भिः, नेत्रैः, ओषधीनां, नाथं, सोमम्, इव, तं पपुः।

अर्थ- प्रवास होने के कारण नहीं देख पड़ने से 'चन्द्रकला में' कला के अस्त हो जाने से नहीं दीख पड़ने से लोगों से देखने की उत्कण्ठा जिसने उत्पन्न करा दी है तथा पुत्र के लिए गोसेवारूप व्रत करने से जिनका शरीर कृश हो गया है, 'चन्द्रपक्ष में' लोक के हित के लिए देवताओं को अमृतरूपी कलाओं के दानरूपी निमित्त से जिसका नवीन आविर्भाव हुआ है, ऐसे ओषधियों के स्वामी चन्द्रमा की भाँति उन राजा दिलीप को प्रजाओं ने अतृप्त नेत्रों से देखा।।७३।।

पुरन्दरश्रीः पुरमुत्पताकं प्रविश्य पौरैरभिनन्द्यमानः।
भुजे भुजेन्द्रप्रतिमानसारे भूयः स भुमेर्धुरमाससञ्ज॥७४॥

अ०- पुरन्दरश्रीः, सः, पौरैः, अभिनन्द्यमानः, उत्पताकम्, पुरं, प्रविश्य, भुजेन्द्रप्रतिमानसारे, भुजे, भूयः, भूमेः, धुरम्, आससञ्ज।

अर्थ- इन्द्र के समान कान्ति वाले उन राजा दिलीप ने पुरवासियों से अभिनन्दन किये जाते हुए, जिसमें पताकाएं फहरा रही थीं, ऐसे 'अयोध्या' नामक नगर में प्रवेश करके सर्पराज वासुकि के समान बल रखने वाले बाहु पर फिर पृथिवी के पालन रूप भार को धारण किया॥७४॥

अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः सुरसरिदिव तेजो वह्निनिष्ठ्यूतमीशम्।
नरपतिकुलभूत्यै गर्भमाधत्त राज्ञी गुरुनिरभिनीवेष्ठ लोकपालानुभावैः॥

अ०- अथ द्यौः, अत्रेः, नयनसमुत्थं, ज्योतिः, इव, सुरसरित्, वह्निनिष्ठ्यूतम्, ऐशं, तेजः इव, राज्ञी, नरपतिकुलभूत्यै, गुरुभिः लोकपालानुभावैः, अभिनिविष्टं गर्भम्, आधात्त।

अर्थ- इसके बाद आकाश ने जैसे अत्रि मुनि के नेत्रों से उत्पन्न ज्योतिः स्वरूप चन्द्रमा को और देवनदी गंगा ने जैसे अग्नि से फेंके हुए शंकरसम्बन्धी (स्कन्द को पैदा करने वाले) वीर्य को धारण किया, उसी भाँति रानी सुदक्षिणा ने भी राजा दिलीप के कुल की 'सन्तान रूप' सम्पत्ति के लिये श्रेष्ठ लोकपालों के तेज से प्रविष्ट गर्भ को धारण किया॥७५॥

कालिदास की शैली

कविता-कामिनी-कान्त कालिदास ने केवल संस्कृत-वाङ्मय के, अपितु विश्व-वाङ्मय के मुकुटालंकार हैं। उनकी सूक्ष्म दृष्टि बाह्य-जगत् और अन्तर्जगत् की तात्त्विक विशेषताओं का साक्षात्कार करती हुई मनोरम पदावली में उनको अनुस्यूत करती है। उनकी कलात्मक तूलिका नीरस में सरसता, कर्कश में कोमलता, कठोर में सुकुमारता, सामान्य में विलक्षणता, दुर्बोध में सुबोधता, काव्य में सजीवकता और प्रसाद में माधुर्य का संचार करती है। उनकी कलात्मक रुचि की छाप पग-पग पर दृष्टिगोचर होती है। भाषा पर उनका असाधारण अधिकार काव्य को ध्वन्यात्मक बना देता है। भावों की अगाधता और विविधता उनके काव्याकाश में इन्द्रधनुष की छटा प्रस्तुत करती हैं। उनकी भाषारूपी कालिन्दी और भावरूपी भागीरथी के मध्य संस्कृत-गर्भवती रूपी सरस्वती संगम का महनीय वैभव उपस्थित करती है। उनकी शैली में दुरूहता में सुबोधता, काव्य में नाटकीयता, वैसर्गिक सुषमा में सालंकारता, सरलता में सरसता, सहज भावाभिव्यक्ति में कल्पना प्राचुर्य और शृंगार में भी करुण रसोत्पादन जैसी विशेषी गुणों का समन्वय मिलता है। उनकी शैली में भाषा-सौष्ठव, मनोरम भावाभिव्यक्ति, अलंकारों का सहज-विन्यास अन्तः और बाह्य प्रकृति का सरस चित्रण, रसों का सुन्दर परिपाक, जीवन-दर्शन की रुचिर स्थापना, विविध-विद्या-निधानता और मनोभावों की मार्मिक अनुभूति मनोज्ञ मणि-कांचन-संयोग उपस्थित करती है। प्रकृति के साथ तादात्म्य की अनुभूति उनके काव्य-सौरव को अधिक समुन्नत करती है। इनकी शैली में कहीं उपमाओं का लालित्य है, तो कहीं अर्थान्तरन्यास का अर्थ-गाम्भीर्य; कहीं प्रसाद है तो कहीं माधुर्य; कहीं कला प्रधान है तो कहीं कल्पना।

(क) भाषा-सौष्ठव - कालिदास ने भाव सौष्ठव आदि के साथ ही भाषा सौष्ठव, पद लालित्य एवं प्रांजलता पर भी पूरा ध्यान दिया है। कालिदास की भाषा की प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी भाषा रसानुकूल होती है।प्रकरण, प्रसंग, पात्र और वर्ण्य-विषय के अनुरूप शब्दावली का संचयन मिलता है। कहीं-कहीं पर शब्द-ध्वनि भाव-ध्वनि को अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार के पद-माधुर्य के कारण इनके काव्य में संगीतात्मकता और लयात्मकता का दर्शन होता है। उदाहरण-स्वरूप कुछ श्लोक प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

वाल्मीकि के आश्रम में परित्यक्ता जानकी के करुण क्रन्दन का क्या ही मार्मिक चित्रण कालिदास ने प्रस्तुत किया है! जानकी के शोक पर सामवेदना प्रकट करते हुए मोरों ने नाचना, भ्रमरों ने कुसुम-रसास्वाद, मृगेयों ने कुश-चर्वण छोड़ दिया था। इस प्रकार सारे वन में करुण का ही दृश्य उपस्थित था।

नृत्यं मयूराः कुसुमानि भृंगा
दर्भानुपात्तान् विजहुर्हरिण्यः।
तस्याः प्रपन्नं शमदुःखभाव-
मत्यन्तमासीद् रुदितं वनेऽपि।। (रघु० १४.६)

एक वीररस का उदाहरण प्रस्तुत है। इसमें कवि ने किस चातुरी के साथ अनुकूल पदावली के द्वारा युद्ध चित्रित किया है।

पत्तिः पदातिं रथिनं रथेशः
प्रत्युद्ययौ कुण्ठितधीरुदग्रम्।
यन्ता गजस्याभ्यपतद् गजस्थं
तुल्यप्रतिद्वन्द्वि बभूव युद्धम्।। (रघु० ७.३७)

इस युद्ध में सम-बलशालियों के समान शक्तिशालियों का संग्राम हुआ - पैदल से पैदल, रथी से रथी, अश्वारोही से अश्वारोही और गजारूढ़ से गजारूढ़ की भीड़न्त हुई।

शृंगार का भी भाषा-मूलक सौन्दर्य देखिए। मधुयामिनी का रसास्वाद करते हुए दम्पती शिव पार्वती को कैलास पर्वत पर शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर क्या ही सुखद भाव-विलास को समीरित कर रहा था?

स्वर्वाहिनीपारिविहारचारी
रतान्तखेदश्रमशान्तिकारी।
तौ पारिजातप्रसवप्रसर्गौ
मरुत् सिषेवे गिरिजागिरीशौ।। (कुमार० ७.३५)

इसमें व, र, श, स वर्णों का अनुप्रासमूलक भावसौष्ठव क्या ही श्रुति-सुखद है।

कालिदास की भाषा वशवर्तिनी की तुल्य उनके भावों का अनुगमन करती है। अनुप्रास, यमक आदि अलंकार अनायास आते रहते हैं जैसे :-

(क) ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी
वधाय बध्वास्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो भृगतिर्निषङ्ग-
दुद्धर्तुमैच्छत् प्रसभोद्धृतारिः।। (रघु० २।३०)

(ख) सुखदनावयवैरसवसंभृत-
स्तदनुकादिगुणः कुसुमोद्गमः।।
मधुकरैरकरोन्मधुलोलुपै-
र्बकुलमाकुलमायतषट्पदैः।। (रघु० ९।३०)

(ग) पुरा भव त्वं न पुरा भवामि
नाहं पुरोऽसिन्न पुरा बभूव।। (कुमार० ५।७५)

इस भाषा-सौष्ठव के उदाहरण पग-पग पर प्राप्य हैं।

(ख) भावाभिव्यक्ति - कालिदास ललित भावों के कवि हैं। उनके काव्यों में कल्पना की ऊँची उड़ान, मनोभावों की मार्मिक अभिव्यक्ति और भाव-सौन्दर्य पग-पग पर परिलक्षित होता है।

कन्या-सुलभ शालीनता और संकोच का क्या ही सुन्दर वर्णन पार्वती के वर चयन के प्रसंग में मिलता है।

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।। (कुमार० ६।८४)

नारद ने जब वरूप में शंकर का उल्लेख किया तो पिता के समीप बैठी हुई पार्वती शील और संकोच के कारण नीचा मुख किए हुए लीला-कमलों के पत्तों को गिनती रही।

उनकी ये सुन्दर सम्बन्धों एवं समन्वयात्मक रूपों की अभिव्यक्ति अजविलाप में परिलक्षित होती है। अज का लिए इन्दुमती न केवल गृहिणी थी, अपितु मित्र, सचिव और ललितकलाविद् शिष्या थी। उसका वियोग अज का सर्वस्वहरण है। इस दाम्पत्य प्रेम का दुर्लभ है।

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणं विधुरेण मृत्युना
हरता त्वां वद किं न मे हृतम्।। (रघु० ८।४३)

जीवन-मरण का दर्शन कितने सरल और सुबोध किन्तु अनतिशयपूर्ण शब्दों में प्रकट किया गया है।

मरणं प्रकृतिः शरीरिणां
विकृतिर्जीवितमुच्यते बुधैः।
क्षणमप्यवतिष्ठते श्वसन्
यदि जन्तुर्ननु लाभवानसौ।। (रघु० ८।८७)

मृत्यु प्राणी का स्वभाव है, इसका विकार ही जीवन है क्षण भर का भी जीवन लाभ नहीं तो और क्या है?

(ग) रस-परिपाक - कालिदास मूलतः शृंगार रस के कवि हैं, संभोग और विप्रलम्भ दोनों प्रकार के शृंगार के वर्णन में सिद्धहस्त हैं। करुण रस के भी कतिपय वर्णन अत्यन्त मार्मिक हैं, वीर रस के प्रसंग यद्यपि कम हैं, तथापि उनमें कालिदास की योग्यता किसी भी प्रकार न्यून नहीं है। अन्य रसों के वर्णन अल्पल्प हैं।

शिव-पार्वती के दाम्पत्य प्रेम की अविभाज्यता और अनुकरणीयता की कल्पनापूर्ण तुलना भागीरथी और रघु के प्रेम से की है। यदि भागीरथी के लिए सगर पर्याप्त है, तो रघु के लिए भागीरथी। इसी विधि से शिव और पार्वती के रसात्मक सम्बन्ध की थी।

तं यथात्मसदृशं वरं वधू-
रन्वरज्यत वरस्तथैव ताम्।
सागरानपगा हि जाह्नवी
सोऽपि तन्मुखरसैकवृत्तिभाक्।। (कुमार० ८।८)

संभोग शृंगार के एक सुन्दर प्रसंग में कवि ने पार्वती के अधर-क्षत की औषधि शिव-शिरः स्थित चन्द्रकला बताई है।

दष्टमुक्तमधरोष्ठमल्लिका
वेदनाविधुतहरस्तपल्लवा।
शीतलेन निरतापगत क्षणं
मौलिचन्द्रशकलेन शूलिनः।। (कुमार० ८।८६)

विप्रलाभ शृंगार का अत्यन्त प्रभावोत्पादक एवं मनोज्ञ वर्णन राम-परित्यक्ता सीता की भग्न-विह्वलता में प्राप्त होता है। दुःखातिभार के कारण संज्ञा-शून्य सीता को दुःख का भार इतना दुःखदायी न हुआ, जितना होश में आने पर प्रबोध।

सा लुप्तसंज्ञा न निगेद दुःखं
प्रत्यागतासुः समलप्यतान्तः।
तस्या सुमित्रात्मजयत्नलब्धो
मोहादभूत् कष्टतरः प्रबोधः।। (रघु० १४।६८)

करुण रस को भी अभिव्यक्ति शृंगार से किसी भी अर्थ में न्यून नहीं है। कामदेव के विनाश पर शोक-विधुरा रति मरने के लिए उद्यत है। उसका कथन है चन्द्रमा के साथ चाँदनी और मेघ के साथ बिजली चली जाती है। पत्नी पति के साथ जाती है, यह अचेतनों में भी दृष्टिगोचर होता है।

शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तडित् प्रलीयते।
प्रमदा पतिगर्हणा इति
प्रतिपद्यं हि निवेदनैक्षिषि।। (कुमार० ४।४४)

करुण रस का एक अन्य सुन्दर उदाहरण देखिए। परमात्मा की लीला विचित्र है। कहीं अमृत भी विष हो जाता है और कहीं विष भी अमृत। पुष्पमाला भी इन्दुमती के लिए विष हो गई, पर वही अज के लिए प्रभावहीन है।

त्यजेयं यदि जीवितग्रहा
हृदये के निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद् भवे-
दमृतं वा विषमीश्वरेच्छया।। (रघु० ८।८६)

हास्यरस का भी एक उदाहरण उपयुक्त प्रतीत होता है। वटु-वेषधारी शिव का कथन है कि यदि पार्वती का शिव से परिणय होता है तो हाथी और सवारी के योग्य वधू को बूढ़े नन्दी बैल पर बैठा देखकर सभी लोग हँसेंगे।

इयं च तेऽन्या पुरतो विडम्बना
यदूढया वारणराजहार्यया।
विलोक्य वृद्धोक्षणविष्ठितं त्वया
महाजनः स्मेरमुखो भविष्यति।। (कुमार० ५।७७)

(घ) अलंकार निरूपण कालिदास के काव्यों में अलंकार विधान आयास-साध्य न होकर अनायास सिद्ध है। पद-पद पर अनुप्रास, उपमा, रूपक, अर्थान्तरन्यास और उत्प्रेक्षाओं के दर्शन होते हैं। यद्यपि यमक, अतिशयोक्ति, दीपक, व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा, श्लेष, निदर्शना, एकावली, दृष्टान्त, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकारों के भी सुन्दर प्रयोग मिलते हैं, तथापि आयास-साध्य होने के कारण कवि ने इनको महत्व नहीं दिया है। केवल वाग्वैचित्र्य और पाण्डित्य-प्रदर्शक चित्रालंकारों का इनके काव्यों में सर्वथा अभाव है।

(१) उपमा कालिदासस्य - उपमा कालिदास का अत्यन्त प्रिय अलंकार है। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि कालिदास उपमा से अलंकृत है। वह उपमा के बिना जीवित नहीं रह सकते। उनकी उपमाएँ आकर्षण और मनोरम होती हैं। उनकी विशेषता यह है कि उनमें लिंग-साम्य, भाव-साम्य और रमणीयता का अनुपम सम्मिश्रण है। उनकी उपमाएँ एकांगी होकर सार्वदेशिक और व्यापक हैं। कहीं काव्य-शास्त्रीय, दार्शनिक, व्याकरण से संबद्ध और वेद विषयक हैं, तो कहीं अनेक विभिन्न रूपों से सम्बद्ध है। कहीं पूर्ण की पूर्ण से तुलना है तो कहीं पूर्ण की अपूर्ण से।

कालिदास केवल एक सुन्दर दीपशिखा की उपमा से 'दीपशिखा कालिदास' हो गए। इन्दुमती स्वयंवर मण्डप में इन्दुमती की सम्यक् संचारिणी दीपशिखा से दी गई है। वह जैसे जिस राजा को छोड़कर आगे निकल जाती थी, वह उसी प्रकार खेदखिन्न एवं विषादाकुल हो जाता था, जैसे संचारिणी दीपशिखा के आगे निकल जाने पर पूर्ववर्ती राज-प्रसाद अन्धकारावृत हो जाता है। क्या ही मनोरम उपमा है।

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ
यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे
विवर्णभावं स स भूमिपालः।। रघु. ६.६७

कामदेव के विनाश से दुःखित रति की अवस्था वायु से बुझाए हुए दीपक की धूमावृत वर्तिका के तुल्य अन्धकाराच्छन्न (विषादमय) थी। यह कवि की सर्वश्रेष्ठ उपमाओं में से एक है। इसमें शोकाकुल व्यक्ति का क्या ही मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है।

उत एव न ते निवर्तते
सा सखा दीप इवानिलाहतः।
अहमस्य दशेव पश्य मां-
मविषह्याव्यसनेन धूमिताम्।। कुमार. ४.३०

(2) अर्थान्तरन्यास - कालिदास की उपमाओं में जो भावाभिव्यक्ति और रस-सौन्दर्य मिलता है, उसके समकक्ष अर्थान्तरन्यास की ज्ञानधारा भी बहती है। कुछ अर्थान्तरन्यास सूक्तियों के रूप में अत्यन्त प्रचलित हो गए हैं। 'अर्थान्तरन्यास विन्यासे कालिदासो विशिष्यते'।

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य
हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एको हि दोषो गुणसंनिपाते
निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।। कुमार. १.३

(3) अन्य अलंकार - उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, रूपक, विरोधाभास, यमक आदि के भी सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

वर्णन-वैचित्र्य - कालिदास के वर्णनों में वैचित्र्य और वैविध्य दोनों हैं। उन्होंने अन्तः प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। मनोभावों का विशद वर्णन, प्रकृति का मानवीकरण, प्रकृति के साथ तादात्म्य की अनुभूति, वर्णनों में सजीवता और स्वाभाविकता, भावानुकूल पद-विन्यास, तात्त्विक वर्णनों के साथ व्यंजना वृत्ति का आश्रयण, कला में कल्पना का पुट और सरल भाषा में भावों की अभिव्यक्ति आदि गुण कालिदास के वर्णनों की विशेषताएँ हैं।

सन्ध्याकाल में सूर्यास्त का कितना मनोरम वर्णन है :-

संध्यारुणानि विगलन्ति शनैः
कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा
प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।। रघु. २.१५

साथ सरयू नदी को देखकर भाव-विभोर हैं और उसे माता संबोधित करते हैं। यह प्रकृति के मानवीकरण तथा उसके साथ तादात्म्य का अनूठा निदर्शन है।

सेयं गतीया जननीव सेन
मान्येन राज्ञा सरयूरिवयुक्ता।
दूरे वसन्तं शिशिरान्विलेभी
तरंगहस्तैरुपगूहतीव।। (रघु० १३.५७)

छन्दोयोजन - रघुवंश और कुमारसंभव के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कालिदास को छोटे छन्द अधिक प्रिय थे। बड़े छन्दों का प्रयोग सर्गान्त में किया गया है। छोटे छन्दों में भी उपजाति और अनुष्टुप् अतिप्रिय छन्द हैं।

इसके अतिरिक्त, वैशस्थ, द्रुतविलम्बित, वसन्ततिलका, मालिनी, मन्दाक्रान्ता आदि सभी विशिष्ट छन्दों का भरपूर प्रयोग रघुवंश, कुमारसंभव और मेघदूत में प्राप्त होता है।

छन्दः शारणी

रघुवंश - सामान्य परिचय

इस महाकाव्य में मनु से लेकर सूर्यवंशी ३१ राजाओं के जीवन का वर्णन है। इनमें दिलीप, रघु, अज, दशरथ और राम के जीवन का विशद एवं विस्तृत वर्णन है। सर्गानुसार संक्षिप्त कथा इस प्रकार है : सर्ग १ - राजा दिलीप की सन्तानहीनता और सन्तान-प्राप्त्यर्थ गुरुगुरु वसिष्ठ के आदेशानुसार कामधेनु की पुत्री नन्दिनी की सेवा का व्रत लेना; सर्ग २ - नन्दिनी की सेवा, राजा की परीक्षा, प्रसन्न नन्दिनी द्वारा सन्तान-लाभ का वरदान; सर्ग ३ - रघु का जन्म, विद्याध्ययन, इन्द्र से युद्ध में विजय-प्राप्ति तथा रघु का राज्याभिषेक; सर्ग ४ - रघु के दिग्विजय का वर्णन, सर्ग ५ - वरतन्तु आश्रम में गुरुदक्षिणार्थ १४ करोड़ स्वर्ण की याचना, तदर्थ रघु का कुबेर पर आक्रमण, धन-वृष्टि, प्रसन्न होकर रघु को पुत्र लाभ का आशीर्वाद, फलस्वरूप पुत्र अज का जन्म, इन्दुमती-स्वयंवर के लिए अज का प्रस्थान; सर्ग ६ - इन्दुमती-स्वयंवर का वर्णन ; सर्ग ७ - अज-इन्दुमती परिणय, प्रतिस्पर्धी राजाओं से युद्ध और अज की विजय,, सर्ग ८ - अज का राज्याभिषेक, दशरथ जन्म, इन्दुमती-वियोग और अज का विलाप; सर्ग ९ - दशरथ का मृगया-वर्णन, श्रवणकुमार की हत्या और दशरथ को शाप-प्राप्ति; सर्ग १० - पुत्रेष्टियज्ञ, राम आदि ४ पुत्रों का जन्म; सर्ग ११ - सीता स्वयंवर और राम आदि का विवाह; सर्ग १२ - राम वनवास, सीता-हरण, युद्ध, रावण वध, सर्ग १३ - राम का पुष्पक विमान से अयोध्या प्रत्यागमन तथा मार्गस्थ स्थलों का विशद वर्णन, सर्ग १४- राम राज्याभिषेक, सीता परित्याग; सर्ग १५ - कुश-लव-जन्म, राम का स्वर्गारोहण; सर्ग १६ - कुश का राज्याभिषेक।

"लोकस्यैकस्यापि नेतारमेके न विद्मातुमर्हन्ति" (उत्तर रामच० १) भवभूति की इस उक्ति के अनुसार महाकवि के महत् उद्देश्य की समालोचना तो सामर्थ्य से परे है पर इतना सत्य है कि भारतीय परम्परा व संस्कृति के इतिवृत्त के रूप में महत् तथ्यों एवं ज्वलन्त उदाहरणों से युक्त भारतीय जनमानस का चित्रण संस्कृति व चेतना का समन्वय करते हुए महाकवि ने आदर्श से पूरित चरित्रों की सर्जना कर परिष्कार समाज और राष्ट्र को गतिशीलता प्रदान की है जिसके आधार पर रघुवंश एक राष्ट्रीय कृति है।

रघुवंश की कथावस्तु

रघुवंश काव्य-मीमांसकों के मतानुसार सर्वाधिक उत्तम महाकाव्य के उदाहरण स्वरूप है। किसी प्रसङ्ग कथन में कवि हृदय की भावना ही नहीं परिलक्षित होती वरन् सत्, चित्, आनन्द का त्रिवेणी पाठक के हृदय को आप्लावित कर लेता है। इस दृष्टि से "का इह रघुकारे न रमते" ? कवि कालिदास ने रघुवंश महाकाव्य की रचना में अपनी परिपक्व प्रतिभा और प्रज्ञा का परिचय दिया है।" रघुवंश केवल नृपों का परिचय काव्य ही नहीं है, इसे हम कवि की राष्ट्रीय कृति भी कह सकते हैं। रघुवंश में सर्वत्र अखण्ड भारत का दिग्दर्शन कराया गया है। भारत के प्रत्येक प्रदेश की सुषमा और प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन पूरे महाकाव्य में विस्तार से वर्णित है। रघु की दिग्विजय के व्याज से कवि ने राज्यों की स्थिति ही नहीं, उनमें राजनीतिक एकता दर्शित करने व विशाल भारत को एक सूत्र में बांधने का प्रयास किया है। दूसरी बार इन्दुमती के स्वयंवर के अवसर पर विभिन्न राज्यों की श्री-समृद्धि के वर्णन में रस की सर्जना ही नहीं वरन् एक भावात्मक राष्ट्रीयता का प्रतिबिम्ब उपस्थित किया गया है। अंतिम बार भारत की विशालता का वर्णन स्वयं श्रीराम के मुख से सीता को कराया जो आकाश मार्ग से अवलोकन करवाते हुए करते हैं। तीन-तीन बार एक ही महाकाव्य में किसी राष्ट्र के वर्णन का निमित्त इस विशाल देश को राष्ट्रीयता के सुकोमल सूत्रों से बांधकर, विशाल भारत की परिकल्पना कवि ने की है जो हमें अनायास कवि की अन्तःप्रज्ञा का वैशिष्ट्य एवं उदात्त राष्ट्रीयता का प्रतीक कहने को बाध्य करती है।

रघुवंश का आरम्भ नमस्कारात्मक मंगल से है। महाकाव्य की प्रथम दो पंक्तियाँ शिव और पार्वती, शब्द और अर्थ, भाव और व्यंजना को संश्लिष्ट कर देती हैं।

वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ।। (रघु० १/१)

काव्य की दृष्टि मात्र से नहीं, वरन् सांस्कृतिक दृष्टि से यह वंदना भारतीय संस्कृति की उच्च कल्पना का प्रतीक है जिसमें नर और नारी दोनों ही समान हैं। नारी को अर्धांगिनी कहने की परम्परा आर्यों में थी, आर्य नारी को भोग्या नहीं अपितु मंगलमयी आदिशक्ति मानते हैं। वह संयम के क्षेत्र में पुरुष का पथ प्रदर्शन करने में समर्थ है - इसी दार्शनिक तत्त्व को ध्यान में रखते हुए महाकवि ने शिव और पार्वती की संश्लिष्ट रूप में वंदना की है। साथ ही काव्य के आरंभ में नमस्क्रिया का जो प्रस्तावना है वह भी संपन्न हो गयी है।

नमस्कार क्रिया के पश्चात् सूर्य से उत्पन्न रघुकुल का निर्देश है।

क्व ! सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।। (रघु० १/२)

सूर्य की तेजस्विता, विराटता एवं प्रकाशमय नृपों के जीवन-चरितों को लक्ष्य करते हुए कवि अपनी अल्पना शक्ति का आकलन निर्धारित करते हैं। सूर्यवंश की महिमा के गान विभिन्न पुराणों में उपलब्ध है जो स्पष्ट ही कवि को प्रभावित करता है। यथा भागवत में सूर्यवंश के विस्तार का वर्णन सैकड़ों वर्षों में भी संभव नहीं। कवि इसी प्रभावशाली सूर्यवंश के नृपों की चरितकथा का वर्णन उसी प्रकार कठिन मानते हैं जिस प्रकार छोटी-सी डोंगी लेकर उत्ताल तरंगों से युक्त सागर को पार करना। उनकी हार्दिक अभिलाषा यही है कि विवस्वान् के वंशजों की रूपरेखा प्रस्तुत करें क्योंकि सूर्य के समान ही कान्तिमान इस वंश के नृपों का चरित रहा है और उन चरित्रों का गान पूर्व कवियों द्वारा किया गया है। स्पष्ट है पुराणों, रामायण महाभारत अथवा पूर्ववर्ती अन्य ग्रन्थों में वर्णित राजकथा एवं सूर्यवंशी नृपों के कथानक को कवि ने उपजीव्य बनाया है, इसकी प्रतीति हमें कालिदास ने जिन चरितावलि को अपने काव्य का आधार बनाया उसके संदर्भ में कवि ने कवि का आदरभाव ही नहीं है अपितु उन चरितों ने कविता की भावनाओं को प्रेरित किया "क्यों" और "कैसे" वह कवि की भावप्रेरित वाणी से ही परिलक्षित हुआ है। "वह वंश जो जन्म से ही शुद्ध, आसमुद्रक्षितिपति पर शासन करने वाला, विधिपूर्वक यज्ञ-होम-हवनादि करने वाला, याचकों को सम्मान देने वाला, अपराधियों को दंड देने वाला, उचित समय पर सावधान रहने वाला, सत्पात्र को दान देता, यश ही विजय चाहने वाला, संतानार्थ विवाह करने वाला, बाल्यावस्था में ही समस्त विद्याओं का अभ्यास करने वाला, युवावस्था में भोग एवं वार्धक्य अवस्था में मुनियों की तरह रहने वाला व शरीर त्याग करने वाला है - उस वंश के राजाओं की चारुतावली - ही कवि को बिना विचार किए हुए वर्णन के लिए प्रेरित किया। यह वर्णन काव्य बन पड़ा या नहीं इसका परीक्षण पंडितों - ही विचारार्धीन छोड़ा। कवि वैवस्वत मनु और उसके वंशज दिलीप का वर्णन प्रारंभ करते हैं अतः कथानक की दृष्टि से कथावस्तु को "आधिकारिक कथावस्तु" की श्रेणी में आकलित किया जायेगा। कथा की प्रकृति "आख्यात" है। पंडितों ने पुराने वेदों में ओजस के प्रतीक राजाओं में प्रथम वैवस्वत मनु हुए तथा वैवस्वत मनु के पावन वंश में असिधाराव्रत राजा में श्रेष्ठ दिलीप के नाम से प्रसिद्ध क्षीर समुद्र से चन्द्रमा की तरह उदित हुए। यह कथन स्पष्ट करता है कि आधिकारिक कथावस्तु उस महासरिता के समान है जिसमें प्रासंगिक वस्तु अनायास खोलकर आधिकारिक कथावस्तु को गति देने वाली हो जाती है यथा दिलीप की पुत्रकामना के समान है जिसमें प्रासंगिक वस्तु अपनापन खोकर आधिकारिक कथावस्तु को गति देने वाली हो जाती है। यथा दिलीप की पुत्रकामना से गोसेवा तो आधिकारिक है किन्तु गौ द्वारा परीक्षा लेने की प्रक्रिया या रूप में कामधेनु द्वारा अगस्त्य के कारण दिलीप को शापित करने की कथा प्रासंगिक है जो कथा को निश्चित फल या लक्ष्य तक पहुँचने में सहयोग और बल देती है।

काव्य का इतिवृत्त मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है अतः काव्य की कथावस्तु में नाटक की ही भाँति पहली अवस्था आरम्भ है। इस अवस्था के अन्तर्गत नायक किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करता है। दूसरी अवस्था प्रयत्न की है जिसमें लक्ष्य प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होता है। तीसरी अवस्था प्राप्त्याशा है, विघ्नादि का विचार कर लेने के बाद नायक को लक्ष्य-प्राप्ति की संभावना पर पूरा विश्वास हो जाता है, यह है नियताप्ति। अंतिम और पाँचवीं अवस्था है फलागम। यहाँ तक के लिए यह भी अपेक्षित है कि उसका निर्बंधन सोद्देश्य और सफल हो। कवि अपनी काव्यरचना का सूक्ष्म विषय भी, किसी भी अंचल के इतिहास पुराणपरंपरा दृष्टि से परिष्कृत कर ही ले पाते हैं। इस दिशा में महाकवि ने वैदिक अर्थों का लेकर इतिहास-पुराण में वर्णित कथानायक नृप दिलीप और उनकी गोसेवा को काव्य का आरंभ बनाया है। क्योंकि इतिहास-पुराण

चरित्रों से जन-साधारण का आत्मीय जुड़ा रहता है। वेदों पुराणों में वर्णित चरित्रों से जन-साधारण का आत्मीय जुड़ा रहता है। वेदों पुराणों में वर्णित कथाएं संस्कारतः व्यक्ति सुनता चला आया है अतः काव्य के कथानक में यदि उसी कथा का पुट रहा तो जन-साधारण को समझने में भी सरलता होती है। इसी असाधारणीकरण की प्रक्रिया में दिलीप की गोसेवा और वर-प्राप्ति की चर्चा, तथ्य और कल्पना निर्मित काव्य का स्वरूप उपस्थित करती है, जिससे कथानक लोक-ग्राह्य बनता है, दिलीप के चरित्र में शासक-वर्ग का ज्ञानी महर्षि के साथ सम्पर्क समाज-कल्याण की शुभ कल्पना के उद्देश्य से ही है। कथा का आरंभ महर्षि वसिष्ठ के आश्रम की ओर गमन से होता है। एक साधारण नागरिक की भाँति नृप दिलीप का आश्रम की ओर प्रस्थान स्पष्ट ही तप-त्याग के प्रति कवि का समादर भाव एवं सामाजिक आदर्श प्रकट करता है, क्योंकि दिलीप एक आदर्श शासक हैं, जिसका शासन अनुकरणीय होना चाहिए अतः कोई तड़क-भड़क नहीं, अत्यन्त सादे व उज्जवल वेष धारण किये तुषार से मुक्त चित्रा एवं चन्द्रमा के समान ही वे लोग आश्रम की ओर जाते हैं। पथ में प्रकृति का सौन्दर्य सहज ही सूर्यवंशी नृपों के सुशासन व समृद्धि के बीज-स्वरूप चित्रित है। आश्रमपथ में नागरिकों का व्यवहार एक सुव्यवस्थित राज्य और राजा के गुणों का परिचायक है। राजा व प्रजा का सहज व्यवहार सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है, जहाँ सत्य को सहज बनाकर देखा जा सकता है। शासन एवं ज्ञान दोनों के ही क्षेत्र में परस्पर पूज्य एवं पूजा का भाव है। यदि सुशासन सुरक्षा देता है तो ज्ञान मानव-जीवन को उत्कर्ष की ओर ले जाता है अतः ऋषि व नृप में परस्पर स्नेहभाव का चित्रण आदर्श भारतीय संस्कृति के उदाहरणस्वरूप कथानक के आरंभ में उपस्थित है। विनीत वेश नृप दिलीप व रानी सुदक्षिणा ऋषियों द्वारा स्वागत पाकर महर्षि वसिष्ठ के समक्ष उपस्थित होते हैं- परस्पर कुशल-क्षेम के व्याज से पुनः सद्वीपा रत्नप्रसू मेदिनी की सुव्यवस्था का चित्रण है। तत्पश्चात् राजा बड़ी ही प्रांजल भाषा में अपुत्र अर्थात् पुत्ररहित होने के दुःख को बतलाते हैं। ऋषि के आश्रम में आने के प्रयोजन को लेकर नृप का मर्यादित कथन योग-भोग का समुच्चय ही नहीं, महाकवि के दृष्टिकोण को भी स्पष्ट करता है। कवि दृष्टि सदा साधना और तप की ओर रही। बिना साधना के ईप्सित वस्तु का प्राप्त होना अपने में महत्त्वपूर्ण नहीं और न तो प्राप्य वस्तु ही विशिष्ट हो सकती है। कवि ने ऐश्वर्य और प्रभुसत्ता को आश्रम में लाकर तपश्चर्या पर बल देने के निमित्त राष्ट्र के कर्णधारों के लिए साधना की उपदेशता से मंडित गोसेवा का निरूपण किया है। प्रमाद से शासक को दूर रहना चाहिए इस तथ्य को प्रकट करने के लिए राजा दिलीप द्वारा कामधेनु का अनादर ही उनके पुत्रहीन होने का कारण बना। इसे समझाते हुए वसिष्ठ राजा को साधना के मार्ग का अवलंबन करने का निर्देश देते हैं; प्रमाद को दूर करने की साधना साधक-वेश एवं उचित परिवेश में ही संभव है। इसके लिए अभ्यास भी आवश्यक है। अतः साधक रूप में नंदिनी (आश्रम की गौ जो कामधेनु की पुत्री है) की सेवा नृप आरंभ करते हैं।

प्रथम सर्ग की कथा उस विशाल साम्राज्य के महान् नृप के वसिष्ठाश्रम में राज्य-सुखों को छोड़ पर्णशाला में कुश की शय्या पर साधना करने से समाप्त होती है। महर्षि की योजना साधना को बल देती है। साथ ही आज के सन्दर्भ में उसे हम समाजवाद का परिपोषक कहें तो अत्युक्ति न होगी। राजमहलों एवं सभासदनों से प्रजा का कल्याण नहीं किया जा सकता है। इसके लिए साधना के स्तर पर उतर कर साधारण वेश-परिवेश में रह कर जीने की क्षमता प्राप्त करने की अपेक्षा है। इस तथ्य को आज से प्रायः दो हजार वर्ष पूर्व महाकवि ने अनुभूत किया एवं राजा के चरित्र-वर्णन में इसे आवश्यक अंग के रूप में चित्रित किया। प्रभुसत्ता प्राप्त व्यक्ति जब तक इस प्रकार साधना को अपना कर जीवन को सहज नहीं बनाता तब तक राष्ट्र का कल्याण नहीं।

द्वितीय सर्ग में कथानक "प्राप्त्याशा" और "फलागम" की ओर उन्मुख "यत्न" नामक अवस्था से युक्त है। नृप दिलीप और रानी सुदक्षिणा व्रतपालन व गोसेवा में तत्पर हैं। उनकी सेना, सेवक आदि कोई भी वहाँ उपस्थित नहीं; क्योंकि "स्वगीर्थ-गुप्ता हि मनोः प्रसूतिः"-इस साधारणीकरण से नृप व रानी की गोसेवा नाना चेष्टाओं-क्रियाओं से मंडित है- सेवा के लिए निष्ठा की अपेक्षा होती है। निष्ठा श्रद्धा से आती है। नृप और रानी ने सम्पूर्ण निष्ठा और श्रद्धा से गौ सेवा के पथ का अनुगमन किया जैसे "श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्" गोसेवा करने के प्रसंग में गौ की छोटी-छोटी क्रियाएँ व नृप की सेवा सब का वर्णन सुन्दर उपमाओं से मंडित कर चित्रण किया गया है। प्रतिदिन वन में गौ चराने जाते हुए नृपति के व्यक्तित्व का अंकन करते हुए कवि ने स्पष्ट किया है कि व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व ही उसे गौरव प्रदान करता है, चाहे वह राजमहल में हो या एकान्त वन में--नृप दिलीप के पार्श्ववर्ती अनुचर वृन्द के न होने पर भी पक्षियों का कलरव जयगान की भाँति, गिरते हुए पुष्प नगर की मांगलिक पुष्प वर्षा-सी, जंगली बाँसों के झुरमुट से उत्पन्न होती हुई ध्वनि राजा के यशोगान-सी, ठण्डे झरनों के जल से युक्त वायु सब मानों दिलीप के अनुचर हो गए। नंदिनी के चलने पर राजा चलते थे, बैठने पर बैठते थे, पानी पीने पर स्वयं जल पीते थे--अर्थात् सर्वदा छायावत् गोसेवा में लगे रहते थे। आश्रम लौट आने पर पति-पत्नी दोनों मिलकर गोसेवा के अवशिष्ट कार्यों को करते थे। इसी प्रकार गोसेवा करते हुए इक्कीस दिवस बीत गए। प्रत्येक व्रत की परीक्षा होती है। परीक्षा

ही तो हमारी साधना में परिपक्वता लाती है। नन्दिनी की परीक्षा के निमित्त एक दिन गिरि कन्दरा में प्रवेश कर गए वहाँ माया-निर्मित हिंस्र सिंह ने नन्दिनी को खाने के लिए दबोच लिया। निमेष मात्र में ही सब घटित हुआ।

गौ के आर्तनाद से दयार्द्र हो नृप गोरक्षार्थ सन्नद्ध होते हैं, किन्तु मंत्र-मोहित से नृप का हाथ धनुष और बाण से शून्य निष्क्रिय हो जड़वत् हो जाता है। बारम्बार चेष्टा करने पर भी नृप बाण चलाने में असमर्थ हो चकित हैं कि सिंह मानवीय वाणी में उद्बोधन आरम्भ करता है। बहुत देर तक यह वार्ता चलती है जो महाकाव्य में कथोपकथन का नवीन पुट देते हुए कथा को अग्रसर करती है। सिंह अपना परिचय देता है। तत्पश्चात् भोज्य सामग्री के रूप में गौ को पाकर जीवन निर्वाह की बात कहता है। नृप सिंह को स्पष्ट करते हैं कि वे क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय का अर्थ है "क्षतात्त्रिभ्यत इत्युदग्रः"। अर्थात् दीनों की रक्षा करना उनका निहित धर्म है। गौ के स्थान पर भोज्य पदार्थ के रूप में नृप अपना शरीर अर्पित करने को तत्पर हो जाते हैं। सिंह बार-बार विभिन्न उदाहरणों से उन्हें (नृप) को इस दुःसाहस से रोकता है किन्तु नृप को पंचभूत से बने शरीर का लिए मोह नहीं और वे आत्मदान के लिए कृतसंकल्प हो जाते हैं, गौ के लिए नृप का आत्मदान स्तुत्य है। मायासिंह विलीन हो जाता है; नन्दिनी श्रद्धा और निष्ठा को सफल व प्रामाणिक पाती है। स्तवना और प्रलाप की समाप्ति होती है। वसिष्ठ आदि मुनि का करणीय निर्देश देते हैं और नृप रानी व साथ नवीन चंद्र-से सुशोभित होते हुए अयोध्या नगरी में लौट आते हैं।

चरित्र चित्रण

राजा दिलीप

दिलीप का प्रथम परिचय नृप के रूप में मिलता है। नृप का धर्म है वर्णाश्रम का पालन करते हुए राज्यतंत्र का निर्वाह करना। राजा का सृजन ही सबके रक्षार्थ हुआ है अस्तु, ऐसे गुणों से युक्त दिलीप का चरित्र सृष्टा कालिदास ने स्वयं में विशिष्ट है।

दिलीप का व्यक्तित्व सर्वाधिक बल और तेज सम्पन्न है।

सर्वातिरिक्तसारेण सर्वतेजोऽभिभाविना।
स्थितः सर्वोन्नते नीवी क्रान्त्वा मेरुसरेवात्मना।। (रघु० 1/14)

चौड़ी छाती, उन्नत स्कंध और लम्बी भुजा से दिलीप राज-कार्यों के लिए शरीर धारण किए हैं।

व्यूढोरस्को वृषस्कंधः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षत्रो धर्म इवाश्रितः।। (रघु० 1/13)

वे उसी प्रकार से सूर्यवंश से उत्पन्न हैं यथा क्षीर-समुद्र से चन्द्रमा का उदय।

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः।
दिलीप इति राजेन्दुरिन्दुः क्षीरनिधाविव।। (रघु० 1/14)

दिलीप शास्त्रज्ञाता थे--शास्त्रों के गहन अध्ययन ने उनके गुणों को और भी अधिक परिष्कृत किया। नृप दिलीप का चरित्र और व्यक्तित्व यदि अनोखे गुणों से युक्त था तो उनका अतिशय गांभीर्य उन्हें असंगतियों से निवारण का सहायक भी था--ठीक उसी प्रकार जैसे सागर में मनोहारिता एवं भयानकता दोनों का ही समावेश रहता है। दिलीप के व्यक्तित्व में इतना विरोधी गुणों के समावेश के कारण प्रजा-जन का स्नेह व सम्मान दोनों ही समान भाव से उन्हें प्राप्त था। स्मृतिकार के अनुसार नृप अपने गुणों के कारण ही समादृत होते थे। जन्म मात्र किसी नृप को राजा पद नहीं प्रदान करता। नृप का सम्मान सदा शौर्य, बल और प्रजा-पालन के कारण ही होता था। इस दृष्टि से राजा दिलीप का चरित्र साक्षात् सूर्य के समान है जो सहस्रगुणा वृष्टि करने के लिए ही सागर के जल को ग्रहण करता है।

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः। (रघु० 1/18)

शास्त्रों में तीक्ष्ण बुद्धि रखने वाले दिलीप अपने धनुष पर चढ़ी हुई प्रत्यंचा से प्रजापालन में समर्थ थे। दिलीप के गुणों को देखकर उनके विचार और धीर गम्भीर प्रवृत्ति का ज्ञान होता है। संसार के प्रत्येक सुख, धर्म, धन और राज्य का उपभोग दिलीप द्वारा अनासक्त भाव से किया जाता था; क्योंकि वे शास्त्रों में पारंगत थे, ज्ञान के कारण गर्वादय के गुणों से अछूते थे। इस भाँति भेद भाव रहित प्रज्ञावान् दिलीप समस्त प्रजा के पितातुल्य थे।

रोगापरिच्छेदस्तस्य हृयमेवार्थसाधनम्।
शास्त्रेष्वकुण्ठिता बुद्धिर्मौर्वी धनुषि चातता।। (रघु० १/१५)

प्रत्यक्ष है कि ऐसे गुणों से युक्त नृप का शासन अतिविस्तृत होगा। "रघुवंश" के अनुसार दिलीप का शासन अतिविस्तृत था, उनके राज्य का विस्तार सागर तक था। पूरे साम्राज्य का शासन वे ऐसे सुचारु रूप से करते थे मानों वह एक नगर हो।

तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना।
तथा हि सर्वे तस्यासन्परार्थैकफला गुणाः।। (रघु० १/१६)

इस प्रकार शासित विशाल साम्राज्य में राजा का अनुकरण करने वाली प्रजा थी। धर्म और सुशासन से प्रजा सम्पन्न थी। पुत्र-कामना से वसिष्ठ आश्रम में जाते हुए राजा के प्रति आदर भाव से युक्त ग्रामीण जन ताज़ा दूध और मक्खन लेकर स्वागतार्थ उपस्थित हुए थे।

दिलीप के चरित्र का दूसरा पक्ष है नृप की विनम्रता। पुत्रप्राप्तना से वसिष्ठ-आश्रम में नृप जब जाते हैं तो उनकी विनम्रता के प्रति जागरूकता दर्शनीय है। आश्रम एक ऐसा स्थान है जहाँ सादगी और शान्तता ही सुशोभित होती है, अतः वहाँ अनावश्यक बाह्य-आडम्बर की कोई उपादेयता नहीं--ज्ञान और सत्ता अपने-अपने स्थान पर ही समादृत होते हैं।

आश्रम में पहुँचने पर राजा महर्षि वसिष्ठ को संध्याकालीन पूजा-अर्चन में तल्लीन पाते हैं। वे प्रतीक्षा करते हैं। यह स्पष्ट ही सम्राट की विनम्रता की अभिव्यक्ति है। महर्षि द्वारा कुशल-क्षेम पूछे जाने पर कहीं भी अपनी अभिव्यक्ति पर अतिशयोक्ति या गर्व का आश्रय नहीं लेते--"हे गुरो! राज्य में सातों अंगों (स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, राज्य-प्रसाद, सेना) में कुशल क्यों न हो; क्योंकि जिसके दैवी (अग्नि, जल, रोग, दुर्भिक्ष, मरण) और मानुषी (दल, चोर, शत्रु, राजा का कृपापात्र, राजा का लोग) आपत्तियों को नाश करने वाले आप स्वयं विद्यमान हैं?

उपपन्नानि नु शिवं सप्तास्वङ्गेषु यस्य मे।
दैवीनां मानुषीणां च प्रतिहर्ता त्वमापदाम्।। (रघु० १/६०)

इसी प्रकार वे कहते हैं कि राज्य में श्री-समृद्धि का जो विस्तार है उसका श्रेय महर्षि वसिष्ठ को है। वसिष्ठ जैसे गुरु की कृपा ही नृप की सारी सम्पत्तियों और गुणों का आधार है। ये उद्धरण स्पष्ट ही दिलीप के विनादि गुणों के उद्बोधक हैं।

पुत्रहीन होना अत्यन्त कष्टप्रद अनुभूति है किन्तु नृप द्वारा जिस भाँति अपने पुत्रहीन होने के दुःख को अभिव्यक्त किया गया है वह मात्र विनम्र कथन ही नहीं शालीनता युक्त भी है।

सेवा महत् तप है। दिलीप ने महर्षि वसिष्ठ से आदेश पाकर तपस्वि-जनोचित आचरण स्वीकार कर लिया। सम्राट् दिलीप सेवा के प्रसंग में गौ के छोटे छोटे कार्यों को अपना उत्साह से निष्पादित करते थे तथा घास को पुचकार खिलाना, गौ के शरीर को खुजलाना, मक्खियों या मच्छरों के बैठने पर तत्काल उन्हें उड़ाना। उन्होंने अपनी भूख-प्यास भी गौ की सेवा में भुला दी। गौ के प्रति कारुण्य-भाव में भी उनकी सेवा-भावना निहित है। काव्य में वर्णित माया-सिंह द्वारा नन्दिनी के आक्रान्त होने पर गौ के करुणा-विगलित आर्तनाद को सुन दिलीप मर्माहत होते हैं तथा दिन भर माँ के लिए आँसू बहाए नन्दिनी के बछड़े के प्रति उनका हृदय करुणार्द्र हो जाता है। राजा का चित्त कितना सरल और सर्वजीवमात्र के प्रति करुणा से भरा है इसकी प्रतीति होती है। इस भाँति समस्त प्रजाओं के श्रेय से विभूषित होने का गौरव नृप दिलीप को प्रकृति प्रदत्त है।

क्षत होने से अर्थात् नष्ट होने से जो बचाए वही क्षत्रिय है। ज्ञान में मौन, व्यवहार में क्षमावान् किन्तु आश्रितों का त्राणकर्ता ही क्षत्रियत्व से विभूषित होता है। नन्दिनी गौ के सिंह द्वारा आहत होने पर दिलीप के स्वाभाविक क्षत्रियत्व के गुण जाग उठते हैं। मन्त्र सिद्ध बाण चलाने में असमर्थ होने पर दिलीप की आन्तरिक तड़प कृशोदर नामक मायासिंह के प्रति कथोपकथन से ही स्पष्ट है। मायासिंह को मारने की असहायता की स्थिति में गौ-रक्षार्थ आत्मदान से ही स्पष्ट है। मायासिंह को मारने की असहायता की स्थिति में गौ-रक्षार्थ आत्मदान के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। अपने को निःशेष से दे देना भी एक वीरत्वपूर्ण कार्य है निःस्वार्थ होकर इस विसर्जन को साधारणजन मूर्खता ही कहेंगे।

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।। (रघु० २/४७)

किन्तु ऐसे व्यक्ति जो मानव की करुणा से ओतप्रोत हैं वे भला इस सांसारिकता में क्यों भटकेंगे? शरीर जो प्रजापालन, पुत्र प्राप्ति का एकमात्र साधन है इस शरीर की नश्वरता से भी दिलीप भलीभाँति परिचित हैं अतः तृणवत् मायासिंह के भोजनार्थ उसका त्याग करने को तत्पर हो जाते हैं।

नृप के साथ ही दिलीप के चरित्र का एक और रूप है - पति की अनुगामिनी पत्नी सुदक्षिणा के पति के रूप में। काव्य में उद्धृत अंशों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि ये एक सद्गृहस्थ की भाँति अपनी पत्नी के प्रति निष्ठावान थे एवं उन्हें आदर देते थे। वसिष्ठ आश्रम में पहुँच कर, अनुचरों को विश्राम का आदेश दे, रथ से उन्होंने पहले अपनी पत्नी को उतारा, फिर स्वयं उतरे। सगर्भा पत्नी को देखकर साधारण जन की ही भाँति नृप दिलीप प्रसन्न हुए, आदरपूर्वक बार-बार रानी से उनकी अभीप्सित वस्तुओं को पूछा करते थे। अभीप्सित वस्तुओं को पूछा करते थे।

न मे हिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृतः प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वरः।। (रघु० ३/१)

संभवतः लज्जाशीला रानी कुछ मुँह से न कहे अतः सखियों से भी पूछते थे। ऐसी कोई भी वस्तु न थी जिसे उन्होंने रानी की दोहद-इच्छा के अनुकूल न मँगवाया हो, स्पष्ट ही पत्नी के प्रति नृप का आदरभाव है। प्रियानुराग के वशीभूत हो नृप ने सभी प्रकार के वैधि-विधानों से पुंसवन-आदि व्रतों को किया। राजवैद्यों से उपचार करवाया; क्योंकि सुदक्षिणा को वे रत्नों की निधि से युक्त समझते थे। घटनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि पुत्रजन्म से नृप साधारण जन के समान अभिभूत हुए।

इन्द्रयुद्ध में पुत्र रघु के विजयी और घायल होकर आने पर दिलीप ने उसका स्नेह भीगा स्वागत किया है। दिलीप उन महापुरुषों में से थे जो जीवन को पावन और ऊँचा बनाने वाले नैतिक मूल्यों को महत्त्वपूर्ण स्थान देते थे।

दिलीप रघुवंश में आदर्श चरित्र के रूप में प्रस्तुत किए गए हैं जो आर्ष परम्परा के नियामक तथा आर्य संस्कृति के रक्षक हैं। सत्त्वगुण से युक्त दिलीप का आचरण है। जहाँ वे राजस वृत्ति से वेष्टित हुए हैं वहाँ उन्होंने तप को अंगीकार कर अपना परिष्कार भी किया है।

राजा दिलीप का चरित्र काव्य के प्रारम्भ में "स्थितः सर्वोन्नतेनोर्वीं क्रान्त्वा मेरुमिवात्मना" सदृश है।

रानी सुदक्षिणा

मगधराज-कन्या सुदक्षिणा सम्राट् दिलीप की पत्नी हैं। "दिलीप का रनिवास बहुत बड़ा होने पर भी" वे सुदक्षिणा और लक्ष्मी (राज्यलक्ष्मी) से ही वह अपने को स्त्रीवाला मानते थे।

कलभोरुरुदारदर्शनः मदिरापाङ्गविलासचञ्चलः।
तदवाप्य नवप्रियाश्रयं द्वयमेवोभयतः प्रतिष्ठितम्।। (रघु० ८/१२)

वसिष्ठ आश्रम के मार्ग में रथारूढ़ हो जाते हुए मार्ग, पर्वों तथा वृक्षों का परिचय रानी सुदक्षिणा को देते हुए चल रहे हैं।

इससे यह प्रतीति होती है कि, पति के जीवन से राजप्रासाद में अवस्थिता रानी अपरिचिता है। यहीं रानी सुदक्षिणा महर्षि वसिष्ठ से पुत्र-प्राप्ति हेतु पाये हुए निर्देशों के अनुसार ही तपोवन के जीवन को ग्रहण करती है जो रानी के चरित्र में श्रद्धा, कष्टसहिष्णुता एवं तप का प्रतीक है। ये पति के साथ ही तपोवन में गो-सेवा के निमित्त सभी कार्यों को स्वयं सम्पन्न करती हैं। राजप्रासाद के जीवन के पश्चात् राजरानी से आश्रम जीवन को अपना लेना भारतीयता का परिचायक है। कुछ ही समय, गर्भपुटीवास, तपोवन का जीवन जहाँ वे रानी नहीं, मात्र एक साधिका बन व्रत-नियमों करते हुए रहती हैं। इस क्रम में उनकी निष्ठा कवि के शब्दों में "पतिव्रताओं में अग्रणी राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा ने नन्दिनी के खुरों से उड़ने के कारण धूलि वाले मार्ग (तपोवन मार्ग) का वैसी भांति अनुसरण किया जैसे स्मृत्यादि स्मृतियाँ वेद-वाक्यों के अर्थों का अनुसरण करती हैं।"

तस्याः खुरन्यासपवित्रपांसुमपांसुलानां धुरि कीर्तनीया
मार्गं मनुष्येश्वरधर्मपत्नी श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत्।। (रघु० २/२)

आरक्षवान् रानी के अपने पति नृप दिलीप के प्रति अपरिमित स्नेह है। पति की अनुगामिनी होने के कारण ही वह पति के निकट अत्यधिक श्रद्धा की पात्र हैं। काव्यवर्णित एक दो स्थल विशेष रूप से द्रष्टव्य हैं, जैसे वसिष्ठ आश्रम में पहुँचने पर राजा दिलीप रानी को पहले रथ से उतारते हैं। दोहद काल में रानी सुदक्षिणा ने जिस वस्तु की इच्छा की उसे दिलीप ने अवश्य मँगवाया। क्योंकि "नृप दिलीप ने गर्भिणी सुदक्षिणा को रत्नों की निधि रखने वाली पृथ्वी तथा भीतर में छिपी हुई अग्नि को रखने वाले शमीवृक्ष की भाँति और अन्तः सलिला सरस्वती के समान समझा।"

निधानगर्भामिव सागराम्बरां शमीमिवाभ्यन्तरलीनपावकाम्।
नदीमिवान्तः सलिलां सरस्वतीं नृपः ससत्त्वां महिषीममन्यत।। (रघु० ३/६)

फलतः प्रियानुरागी नृप ने कुशल-वैद्यों द्वारा रानी के उपचार का प्रबंध किया।

"अखंडितं प्रेम लभस्व पत्युः" का आशीष वरस्क महिलाओं द्वारा सद्य विवाहिता कन्याओं को दिया जाता है - वह मानों सुदक्षिणा ने पूर्णरूपेण प्राप्त कर लिया था। स्त्री रत्न होती है रत्नस्वरूपा ही सुदक्षिणा पति के निकट थी जो स्वयं उसके पुत्रों का परिचायक है। नारी का मातृरूप सदा से श्लाघनीय रहा है - वंश क्रम की रक्षिका और पितृऋण से मुक्त करवाने वाली होने के कारण आर्यनारी का स्थान अद्वितीय रहा है।

(पूर्वेषामृणनिर्मोक्ष साधनम्।। १०.२)

इस दृष्टि से सुदक्षिणा अर्चित, साथ ही आर्य संस्कृति की पोषिका है।

एकक - 2

संस्कृत व्याकरणम्

समास - अव्ययी भाव, कर्मधारय, द्वन्द्व तथा बहुव्रीहि।

समास - सम् उपसर्ग पूर्वक अस् धातु से घञ् प्रत्यय होने पर समास शब्द निष्पन्न होता है। इसका सामान्य अर्थ है - मेल, संक्षेप, एकीकरण आदि। संस्कृत व्याकरण में भी समास का अर्थ संक्षेप ही है 'समासस्तं एकपदी भावप्राग् समासः' अर्थ - जब दो या दो से अधिक पदों को आपस में इस प्रकार मिला लिया जाए कि अन्तिम पद को छोड़कर शेष सभी पदों की विभक्तियों का लोप होकर एक पद बन जाता हो, तो विभिन्न पदों के इस संक्षिप्त एकीकरण या सहस्थिति को समास कहा जाता है। यथा, किसी वाक्य में आए हुए 'दशरथस्य' एवं 'पुत्रः' इन दो पदों का समास करना हो तो 'दशरथस्य' पद की विभक्ति हटा कर 'दशरथपुत्र' यह एक पद समास के कारण बन जाता है। जिस प्रकार दो पदों में समास होता है, उसी प्रकार अनेक पदों में भी समास बन जाता है। समास से पदों का रूप संक्षिप्त हो जाता है, किन्तु यदि बहुत लम्बे लम्बे समास बना दिए जाएं तो अर्थ ग्रहण बहुत कठिन हो जाता है। समास द्वारा बना हुआ पद समस्त पद कहलाता है।

किसी समस्त पद के शब्दों को अलग अलग करके पूर्व रूप दे देना (विभक्तियों पुनर्वत् जोड़ देना) ही विग्रह या व्यास कहलाता है 'वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः' यथा 'दशरथपुत्रः' समास का विग्रह है दशरथस्य पुत्रः।

वाक्य में प्रयुक्त हुए सभी पदों में परस्पर समास नहीं हो सकता। समास बनाने के विभिन्न नियम व्याकरण में प्राप्त होते हैं। समास में पहले आए हुए पद को पूर्वपद तथा बाद में आए हुए पद को उत्तरपद कहा जाता है। समस्त पद में किस पद के अर्थ की प्रधानता होती है ? अर्थ की प्रधानता के आधार पर अर्थात् समास में आए हुए दोनों शब्दों की प्रधानता अप्रधानता के आधार पर संस्कृत व्याकरण में समास के मुख्य चार भेद वर्णित हुए हैं -

१. अव्ययीभाव समास
२. तत्पुरुष समास कर्मधारय एवं द्विगु समास तत्पुरुष समास के ही भेद हैं।
३. बहुव्रीहि समास।
४. द्वन्द्व समास

अव्ययीभाव समास

अव्ययीभाव समास में पूर्वपद प्रायः अव्यय (उपसर्ग या निपात) होता है और उत्तर पद संज्ञा पद होता है। इस समास में प्रायः पूर्वपद का अर्थ प्रधान हुआ करता है। अव्ययीभाव समास बनने पर समस्त पद अव्यय बन जाता है अर्थात् फिर इसके रूप नहीं चलते। समास में अन्त होने वाले शब्द का नपुंसकलिंग प्रथमा विभक्ति, एक वचन में जैसा रूप बनता, वैसा ही रूप अव्ययीभाव समास का हो जाता है (अष्टाध्यायी २/४/१८ - अव्ययीभावश्च)। अव्ययीभाव में समस्त पदों का उपयोग प्रायः क्रियाविशेषण के रूप में होता है। इस समास का विग्रह करते समय पूर्वपद (उपसर्ग आदि) के अर्थ का ग्रहण किया जाता है, यथा - गङ्गायाः समीपम् इति उपगङ्गम् (उप-समीप अर्थ)

अव्ययं विभक्ति समीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्यया सम्प्रति शब्दप्रादुर्भाव पश्चाद्यथानुपूर्व्य यौगपद्यसादृश्य सम्पत्तिसाकल्यान्त वचनेषु २/१/६

अव्ययीभाव समास में अव्यय प्रायः निम्नलिखित अर्थों में आते हैं :-

१. सप्तमी विभक्ति के अर्थ में 'अधि' - हरौ इति अधिहरि (हरि के विषय में)
आत्मनि इति अध्यात्मम् विष्णौ इति अधिविष्णु, मनसि इति अभिमनसम् आदि।
२. समीप अर्थ में 'उप' - गङ्गायाः समीपम् इति उपगङ्गम्, नद्याः समीपमिति
सप्तम्यादिः गिरेः समीपम् इति उपगिरि) उपकृष्णम्, उपगु उपराजन् इति।
३. समृद्धि अर्थ में 'सु' ब्रह्मणां समृद्धिः इति सुब्रह्मम्, सुरैः साकम् आदि।
४. व्यृद्धि (दरिद्रता, नाश) अर्थ में 'दुर्' - यवनानां व्यृद्धिः इति दुर्यवनम्, पापीनाम् व्यृद्धिः इति दुष्पापम् आदि।

५. अर्थाभाव (अभाव) अर्थ में 'निर्' - विघ्नानाम् अभावः इति निर्विघ्नम्, निर्जनम्, निर्मक्षिकम्; निर्द्वन्द्वम् आदि।

६. अत्यय (समाप्ति) अर्थ में 'अति' - ग्रीष्मस्य अत्ययः इति अतिग्रीष्मम्।
अतिहिमम्; अतियौवनम् आदि।

७. असम्प्रति (अनौचित्य) अर्थ में 'अति' - निद्रा सम्प्रति न युज्यते इति अतिनिद्रम्।
अतिशयनम्; अतिजागरणम् आदि।

८. शब्द प्रादुर्भाव (शब्द का प्रकाश) अर्थ में 'इति' विष्णुशब्दस्य प्रकाशः इतिविष्णु, इतिकृष्णम्; इतिरामम्; इतिहरि आदि।

९. पश्चात् अर्थ में 'अनु' - नृपस्य पश्चात् इति अनुनृपम्। अनुरथम्; अनुकृष्णम्; अनुविष्णुः अनुहरि आदि।

१०. यथा अर्थ - 'यथा' से चार अर्थ प्रगट होते हैं और उन चारों अर्थों में अव्ययीभाव समास होता है और भिन्न भिन्न उपसर्ग जुड़ते हैं :-

(क) योग्यता अर्थ में 'अनु' रूपस्य योग्यम् इति अनुरूपम्। अनुगुणम् आदि

(ख) वीप्सा अर्थ में 'प्रति' - दिने दिने इति प्रतिदिनम्। ग्रामं ग्रामं इति प्रतिग्रामम्; प्रत्यहम्। प्रत्येकं। प्रत्यर्थम् आदि

(ग) पदार्थानतिवृत्ति (अनतिक्रमण) अर्थ में 'यथा' -इच्छाम् अनतिक्रम्य इति यथेच्छम्।
यथाशक्ति। यथाविधि। यथेष्टम् आदि

(घ) सादृश्य अर्थ में 'सह' - ('सह' के स्थान पर 'स' ही रह जाता है।)
विष्णोः सादृश्यम् इति सविष्णु। सरामम्। सहरि।

११. आनुपूर्व्य (क्रम) अर्थ में 'अनु' - ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण इति अनुज्येष्ठम्।
अनुकनिष्ठम् (कनिष्ठ से क्रम से) आदि।

१२. यौगपद्य (एक साथ होना) अर्थ में 'सह' - (सह के स्थान पर स ही जुड़ता है) - धनुषा युगपत् इति सधनु। सचक्रम् आदि।

१३. सादृश्य अर्थ में 'सह' - (यह 'यथा' अर्थ के अन्तर्गत वर्णित हो चुका है।)
सरामम्, सहरि, ससखि (सख्या सदृशः) आदि।

१४. सम्पत्ति अर्थ में 'सह' क्षत्राणां सम्पत्तिः इति सक्षत्रम्। समद्रम् आदि।

१५. साकल्य (पूर्णतः) अर्थ में 'सह' - तृणमपि अपरित्यज्य इति सतृणम्।

१६. अन्त (समाप्ति, तक) अर्थ में 'सह' - अग्निग्रन्थपर्यन्तम् इति साग्नि।

यावदवधारणे २/१/८ - अवधारण (निश्चित परिमाण) अर्थ को प्रगट करने के लिए 'यावत्' शब्द के साथ अव्ययीभाव समास होता है। यथा - यावन्तः श्लोकाः इति यावच्छ्लोकम्। यावन्ति पद्यानि इति यावत्पद्यम्।

आङ्मर्यादाभिविध्योः २/१/१३ - मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आङ् उपसर्ग के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है। समास न होने पर आङ् के साथ आए हुए संज्ञा पद में पञ्चमी विभक्ति होती है। यथा

आमुक्तेः आ मुक्तेः वा (मुक्ति पर्यन्त)
आबालम् आबालेभ्यः वा

आभिमुख्य (ओर, सामने) के अर्थ में 'अभि' तथा 'प्रति' उपसर्गों का लक्षणवाची पद के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है। *(लक्षणेनाभिप्रति आभिमुख्यते २/१/१४)* यथा - (अग्नि के सामने या ओर) - अग्निं प्रति, प्रत्यग्नि वा; अग्निम् अभि, अभ्यग्नि वा;

जिस पदार्थ से किसी की समीपता दिखाई जाए, उस लक्षणवाची पद के साथ 'अनु' उपसर्ग का अव्ययीभाव समास होता है। *(अनुर्यत्समया २/१/१५)* यथा - वनस्य समीपम् इति अनुवनम्। नद्याः समीपम् इति अनुनदि आदि।

'पारे' तथा 'मध्ये' (सप्तम्यन्त) शब्द का षष्ठ्यन्त पद के साथ विकल्प से अव्ययीभाव समास होता है, तथा पक्ष में षष्ठी तत्पुरुष समास भी होता है। *(पारे मध्ये षष्ठ्या वा २/१/१८)* यथा -

समुद्रस्य पारे इति पारेसमुद्रम्, समुद्रपारे वा। मध्येगङ्गमध्ये वा।

अव्ययीभाव समास करते समय प्रायः उत्तर पद में कहीं ह्रस्व हो जाता है, किसी वर्ण का लोप हो जाता है अथवा कोई प्रत्यय जुड़ जाता है। ऐसे मुख्य नियम निम्नलिखित हैं :-

अव्ययीभाव समास के उत्तरपद का (१) अन्तिम वर्ण यदि दीर्घ हो तो वह ह्रस्व कर दिया जाता है, (२) 'ए', 'ओ' का ह्रस्व रूप 'इ' तथा 'ओ', 'औ' के स्थान पर 'उ' हो जाता है। *(ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य १/२/४७)* यथा - गङ्गायाः समीपं इति उपगङ्गा, उप + गङ्गा = उपगङ्गाः, उप + नदी = उपनदि; उप + वधू = उपवधु; उप + गो = उपगु आदि।

अव्ययीभाव समास के उत्तरपद के रूप में आए हुए शरदादि शब्दों से टच् (अ) जोड़ दिया जाता है। *(अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ५/४/१०७)* (अर्थात् समस्त पद अव्ययान्त होकर नपुंसकलिंग प्रथमा, एकवचन में रहता है) (शरदादि शब्द - शरत्, निशा, अनस्, मनस्, उपानह्, अनड्वाह्, दिव्, हिमवत्, दिव्, रात्र, दिश्, दृश्, गिर्, वर्षा, वर्ष, विपाश् आदि। अनस् प्रतिपदिकस्य नुम्शोऽक्ताः। पथिन्, सदृश् इति।)

शक्तः समीपे इति उपशरदम्, मनसि इति अधिमनसम्।

अक्ष्णोः प्रति इति प्रत्यक्षम्। अक्ष्णोः अभि (आगे) इति अभ्यक्षम्।

अक्ष्णो परम् इति परोक्षम्। अक्ष्णोः पश्चात् इति अन्वक्षम्।

अक्ष्णोः समक्षात् इति समक्षम्।

अन् में अन्त होने वाले अव्ययीभाव समास में टच् प्रत्यय जुड़ता है। (नस्तद्धिते ६/४/१४४ सूत्रानुसार टच् प्रत्यय के पूर्व 'टि' का लोप हो जाता है। *(अनश्च ५/४/१०८)* अर्थात् उत्तर पद के अन् का लोप होकर टच् का अ जुड़ जाता है। आत्मन् इति अधि। आत्मन् = अध्यात्मम्। उप। राजन् =उपराजम्।

अव्ययीभाव समास में उत्तर पद यदि अन्नन्त नपुंसकलिंग हो, तो विकल्प से टच् प्रत्यय जोड़ा जाता है *(नपुंसकादन्यतरस्याम् ५/४/१०९)* यथा उप। चर्मन् (टिलोप एवं टच् योग) = उपचर्म = उपचर्मन्

उप+चर्मन् = उपचर्मन् (न लोपः प्रातिपदिकस्य सूत्र से न् का लोप) = उपचर्म।

यदि अव्ययीभाव समास के उत्तर पद के रूप में शरद्, पौर्णमासी तथा आग्रहायणी शब्द आएँ तो विकल्प से टच् प्रत्यय जुड़ता है। *(शरदः पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ५/४/११०)*

यथा - उपशरदि, उपशरदम्। उपपौर्णमासि, उपपौर्णमासम्। उपाग्रहायणि, उपाग्रहायणम्।

यदि अव्ययीभाव समास के अन्त में अय् प्रत्याहार का कोई वर्ण आए, तो विकल्प से टच् प्रत्यय जुड़ता है। *(अयः ५/४/११५)* यथा -

समिधः समीपे इति - उप+समिध् = उपसमिधम्, उपसमित्।

सरितः समीपे इति - उप+सरित् = उपसरितम्, उपसरित्।

यदि अव्ययीभाव समास के अन्त में गिरि शब्द आए तो विकल्प से टच् प्रत्यय जुड़ता है। *(गिरेश्च सेनकस्य ५/४/११२)* यथा।

गिरेः समीपम् इति - उपगिरि, उपगिरम्।

काल (समय) अर्थ से भिन्न अर्थ में अव्ययीभाव समास में आए हुए 'सह' को 'स' हो जाता है। *(अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ६/३/८०)* यथा -

सहरि, सवृक्षम्, सलिम्बु, साग्नि आदि।

कालवाचक शब्द के साथ अव्ययीभाव समास होने पर 'सह' को 'सह' ही रह जाता है यथा - सहपूर्वाह्णम्।

कर्मधार अथवा समानाधिकरण तत्पुरुष समास

जब तत्पुरुष समास में आए हुए दोनों शब्द समान विभक्तिक हों, तो वह समानाधिकरण तत्पुरुष समास कहलाता है यथा कृष्णः सर्पः इति कृष्णसर्पः। इस उदाहरण में कृष्णत्व सर्प के साथ-साथ रहने के कारण दोनों पद प्रथमा विभक्ति में हैं अतः यह समानाधिकरण है।

समानाधिकरण तत्पुरुष समास को कर्मधारय समास कहते हैं। इसमें प्रथम पद उत्तर पद का विशेषण होता है। कर्मधारय समास की क्रिया समास में आए हुए दोनों शब्दों को धारण करती है। *(तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १/२/४२)* यथा -

'कृष्णसर्पः सर्पति' - इसमें 'कृष्ण' एवं 'सर्प' दोनों ही पद 'सर्पति' क्रिया से युक्त हैं। कर्मधारय समास के कई प्रकार हैं।

विशेषण पूर्वपदकर्मधारय

इसमें पूर्व पद विशेषण एवं उत्तर पद विशेष्य होता है। *(विशेषणं विशेष्येण बहुलम् २/१/५७)* यथा - पीतम् अम्बरम् इति पीताम्बरम्। रक्तं कमलं इति रक्तकमलम्।

कृष्णसर्पः ; विशालवृक्षः ; पूज्यजनः, नीलोत्पलम् आदि।

कुत्सिते २/१/६५ - 'खराब' या 'बुरे' अर्थ में प्रयुक्त 'कुत्सित' शब्द का सदा उत्तर पद से कर्मधारय समास होता है। यथा - कुत्सितः पुरुषः इति कुपुरुषः कुत्सितः सखा इति कुसखा। लिटेडः। कुराजा आदि।

कभी-कभी कुत्सित को 'कद्', या 'कु' भी हो जाता है। यथा -

कुत्सितम् अन्नम् इति कदन्नम्। कुत्सितः पुरुषः इति कापुरुषः।

उपमानपूर्वपदकर्मधारय

उपमानवाचक पूर्वपद का सामान्य गुणवाचक उत्तर पद के साथ कर्मधारय समास होता है। *(उपमानानि सामान्यवचनैः २/१/५५)* यथा - घन इव श्यामः इति घनश्यामः। समुद्र इव गम्भीरः इति समुद्रगम्भीरः। सर्प इव क्रूरः इति सर्पक्रूरः। काककृष्णः ; दण्डकठोरः ; विद्युत्तरलता आदि।

उपमानोत्तरकर्मधारय

पूर्वपद उपमेय का उत्तरपद उपमान के साथ कर्मधारय समास होता है। इस समास का विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है, एक विग्रह में आरोपण होने से रूपक समास कहलाता है और दूसरे प्रकार के विग्रह से उपमा अर्थ का बोध होने के कारण उपमित समास कहलाता है। *(उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे २/१/५६)* यथा -

मुखमेव चन्द्रः इति मुखचन्द्रः ; अथवा मुखं चन्द्र इव इति मुखचन्द्रः।

पुरुषः इव व्याघ्रः इति पुरुषव्याघ्रः; अथवा पुरुषः व्याघ्रः इव इति पुरुषव्याघ्रः।

इसी प्रकार करकमलम् ; चरणपद्मम्; नृसिंहः, पदकुंजरः; मुखकमलम् आदि।

विशेषणोभयपदकर्मधारय

दो समानाधिकरण विशेषणों का कर्मधारय समास हो जाता है। यथा - नीलश्यामौ लोहितौ इति नीललोहितः। कृष्णश्वेतः। लोहितशुक्लः। नीलधूसरः। बद्धमुक्तः। स्नानानुलिप्तः. पीतप्रतिबद्धः गृहीतप्रतिमुक्तः। शुक्लकृष्णः। कुलकुक्कुरम्। वरावरम्। ताडितनुदितः आदि।

द्विगु समास

जब कर्मधारय समास में पूर्वपद संख्यावाची विशेषण हो, और उत्तर पद संज्ञा हो, तो वह द्विगु समास कहलाता है। किन्तु द्विगु समास बनने के लिए कुछ विशेष स्थितियाँ आवश्यक हैं। *(संख्यापूर्वो द्विगुः २/१/५२)*

द्विगु समास (१) तभी हो सकता है जब उत्तर पद के अनन्तर कोई तद्धित प्रत्यय जुड़ा हुआ हो अथवा (२) द्विगु समास किसी और शब्द के साथ समास में जाता हो। *(तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च २/४/५१)* यथा -

(१) तद्धित प्रत्ययान्त -

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतम् इति पञ्चकपालः (पुरोडाशः)

षण्णां मातृणाम् अपत्यं पुमान् इति षष् + मातृ + अ = षाण्मातुरः (कार्तिकेयः)

(२) अन्य शब्द के साथ समास में -

पञ्चगवः धनं यस्य सः इति पञ्चगवधनः। (यहाँ 'पञ्चगवः धनं यस्य सः इति पञ्चगवधनः।

यहाँ 'पञ्च गव' यह द्विगु समास न बन सका यदि 'धन' शब्द के साथ पुनः समास में न जाता।)

द्विगु समास (3) समाहार (समूह) अर्थ में भी होता है और समाहार द्विगु समास सदा नपुंसकलिंग, एकवचन में रहता है। (द्विगुरेकवचनम् २/४/१। स नपुंसकम् २/४/१७) यथा -

त्रयाणां भुवनानां समाहारः इति त्रिभुवनम्।

चतुर्युगम्। प/त्रयम्। सप्तपात्रम् आदि।

यदि समाहार द्विगु समास का उत्तर पद अकारान्त हो, तो समस्त पद ईकारान्त स्त्रीलिंग हो जाता है। (अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते (वार्तिक)) यथा

प/त्रयाणां भुवनानां समाहारः इति त्रिभुवनी। त्रिलोकी। प/त्रयी। अष्टाध्यायी। शताब्दी आदि।

किन्तु यदि उत्तरपद पात्र आदि हो, तो ईकारान्त स्त्रीलिंग नहीं होता। (नपुंसकलिंग, एकवचन ही रहता है। अजादिषु प्रतिषेधः वाच्यः (वार्तिक)) यथा -

त्रिभुवनम्। चतुर्युगम्। प/पात्रम्। त्रिनेत्रम्। प/तन्त्रम् आदि

यदि समाहार द्विगु समास का उत्तर पद आकारान्त हो तो विकल्प से स्त्रीलिंग (ईकारान्त) होता है (आकारान्तो (वार्तिक)) यथा

प/त्रयाणां खट्वानां समाहारः इति प/खट्वी ; प/खट्वम्।

चतुःशाली चतुःशालम्। त्रिशाली, त्रिशालम् आदि।

समानाधिकरण तत्पुरुष एवं व्यधिकरण तत्पुरुष के अतिरिक्त कुछ अन्य तत्पुरुष समास भी होते हैं जिनकी अपनी कुछ विशेषता होती है, और प्रायः उसी विशिष्ट नाम से वे तत्पुरुष समास जाने जाते हैं।

द्वन्द्व समास

च (और) के अर्थ में जुड़े हुए दो या दो से अधिक पदों का समास द्वन्द्व समास कहलाता है। 'उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः' द्वन्द्व समास में आए दोनों या सभी पद प्रधान होते हैं, अथवा उनके समूह की प्रधानता होती है। (चार्थे द्वन्द्वः २/२/२९) समास के तीन प्रकार होते हैं - १. इतरेतर द्वन्द्व, २. समाहार द्वन्द्व, ३. एकशेष द्वन्द्व

इतरेतर द्वन्द्व समास

इस समास में आए हुए प्रत्येक पद की प्रधानता रहती है। यदि दो पद समस्त हुए हों, तो समस्त शब्द द्विवचन में रखा जाता है। दो से अधिक पद होने पर समस्त पद बहुवचन में प्रयुक्त होता है। यथा

रामश्च कृष्णश्च इति रामकृष्णौ। मसी च लेखनी च मसीलेखन्यौ।

रामश्च भरतश्च लक्ष्मणश्च इति रामभरतलक्ष्मणाः।

ऋकारान्त पदों के साथ जब द्वन्द्व समास होता है तो अन्तिम पद (उत्तर पद) से पूर्वस्थित ऋकार→रा हो जाता है और 'आ' हो जाता है। (आनङृतो द्वन्द्वे ६/३/२५) यथा होता च पोता च इति = होतापोतारौ। माता च पिता च = मातापितरौ

होता च पोता च उद्गाता च इति होतृपोतोद्गातारः।

परवल्लिंगं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः - द्वन्द्व और तत्पुरुष समास में उत्तर पद के अनुसार ही समस्त पद का लिंग होता है। यथा -

पुत्रश्च दुहिता च इति पुत्रदुहितरौ। कन्या च पुत्रश्च इति कन्यापुत्रौ।

मयूरी च कुक्कुटश्च इति मयूरीकुक्कुटौ।

कुक्कुटश्च मयूरी च इति कुक्कुटमयूर्यौ।

समाहार द्वन्द्व समास

जब द्वन्द्व समास में 'च' के अर्थ से जुड़ी हुई संज्ञाएँ अपना पृथक् अर्थ रखने पर भी प्रधानतः समाहार (समूह) का ही बोध कराती हैं, तब उसे समाहार द्वन्द्व समास कहते हैं। समाहार द्वन्द्व स. स. सदैव नपुंसकलिंग एकवचन में रहता है।

१. प्राणियों के अंगसमूह, २. तूर्य (वाद्य) के प्रकार वाचक और ३. सेना के अङ्गसमूह वाची शब्दों का समाहार द्वन्द्व होता है। (द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् २/४/२) यथा

१ पाणी च पादौ च एतेषां समाहारः इति पाणिपादम्। इसी प्रकार अन्य भी उदाहरण। शिरोग्रीवम्। हस्तमुखम्। मस्तक

वाक्त्वचम् आदि।

२. भेरी च पटहं च अनयोः समाहारः इति भेरीपटहम्। मार्दङ्गिकपाणविकम् आदि।

३. रथिकाश्च पदातयश्च एतेषां समाहारः इति रथिकपदाति। रथिकाश्वारोहम्। गजारोहपादातम्। शरतूणीरम् आदि।

अचेतन पदार्थ (द्रव्य) के वाचक शब्दों में समाहार द्वन्द्व समास होता है। *(जातिरप्राणिनाम् २/४/६)* यथा - गोधूमाश्च चणकाश्च एतेषां समाहारः इति गोधूमचणकम् (गेहूं चने का ढेर)। धान्यशष्कुलि।

प्राग को छोड़कर नदी एवं देश के वाचक भिन्न भिन्न लिङ्ग वाले शब्दों में समाहार द्वन्द्व समास होता है। *(विशिष्टलिङ्गो नदीदेशोऽग्रामाः २/४/७)* यथा -

गङ्गा च शोणश्च इति गङ्गाशोणम्। कुरवश्च कुरुक्षेत्रञ्च इति कुरुकुरुक्षेत्रम्।

क्षुद्र जन्तु बोधक शब्दों का समाहार द्वन्द्व समास होता है। *(क्षुद्रजन्तवः २/४/८)* यथा -

दंशाश्च मशकाश्च एषां समाहारः दंशमशकम्। (ढेर सारे डाँस और मच्छर)

यूकाश्च लिक्षाश्च एतासां समाहारः यूकालिक्षम्। (ढेर सी जुएँ और लीखें)

जिन प्राणियों में परस्पर जन्मजात शाश्वत विरोध होता है, उनके वाचक शब्दों में समाहार द्वन्द्व समास होता है। *(नित्यं च विरोधः शाश्वतिकः २/४/९)* यथा -

अहिश्च नकुलश्च इति अहिनकुलम्। मूषकमार्जारम्। काकोलूकम् आदि।

विभाषावृक्षमृगतृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्ववडवपूर्वापराधरोत्तराणाम् २/४/१२ -

वृक्षादौ विशेषाणामेव ग्रहणम् (वार्तिक) - वृक्ष (विशेष वृक्षों), मृग, तृण, धान्य, व्यंजन, पशु, शकुनि (पक्षी) के वाचक शब्दों में तथा अश्ववडवे, पूर्वापरे और अधरोत्तरे में विकल्प से समाहार द्वन्द्व समास होता है। यथा -

प्लक्षन्यग्रोधाः, प्लक्षन्यग्रोधम्। रुरुपृषताः, रुरुपृषतम्। कुशकाशाः, कुशकाशम्। व्रीहियवाः व्रीहियवम्। दधिघृते, दधिघृतम्। गोमहिषाः, गोमहिषम्। शुकबराः, शुकबकम्। अश्ववडवे, अश्ववडवम्। पूर्वापरे, पूर्वापरम्।

अधरोत्तरे, अधरोत्तरम्।

एक शेष द्वन्द्व समास

जब द्वन्द्व समास के दो या अधिक पदों में से केवल एक ही शेष रह जाए तो उसे एक शेष द्वन्द्व समास कहा जाता है।

समान रूप वाले शब्दों (बालश्च बालश्च) अथवा समान अर्थ वाले भिन्नरूप शब्दों (घटश्च कलशश्च) का एक शेष द्वन्द्व समास होता है। समास में आए हुए पदों की संख्या के अनुसार ही समस्त पद का वचन निर्धारण होता है। *(सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ १/२/६४ - विरूपाणामपि समानार्थानाम् (वार्तिक))* यथा -

रामश्च रामश्च इति रामौ। रामश्च रामश्च रामश्च इति रामाः।

घटश्च कलशश्च इति घटौ, कलशौ वा। घटश्च कलशश्च कुम्भश्चेति घटाः, कलशाः कुम्भाः वा।

समानार्थक पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग शब्दों के एकशेष द्वन्द्व समास में पुल्लिंग शब्द शेष रहता है। *(पुमान् स्त्रियां १/२/६७)* यथा

ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी चेति ब्राह्मणौ। पुत्रौ। सिंहौ। हंसौ। चटकौ। शुकौ आदि।

मातृ शब्द के साथ पितृ शब्द आने पर विकल्प से पितृ शब्द शेष रहता है। *(पिता मात्रा १/२/७०)*

यथा - माता च पिता च इति मातापितरौ, पितरौ वा।

श्वश्रू शब्द के साथ श्वशुर शब्द आने पर विकल्प से श्वशुर शब्द शेष रहता है। *(श्वशुरः श्वश्वा १/२/७१)* यथा श्वश्रू च श्वशुरश्चेति श्वश्रूश्वशुरौ, श्वशुरौ वा।

द्वन्द्व समास करते समय निम्नलिखित कतिपय नियमों का अवश्य ध्यान रखना चाहिए।

द्वन्द्वे घि २/२/३२ घिसंज्ञक (ह्रस्व इकारान्त, उकारान्त) शब्द को द्वन्द्व समास में पूर्वपद रखना चाहिए। यथा हरिश्च हरश्च इति हरिहरौ (हरहरौ नहीं होगा)

स्वर से प्रारम्भ होने वाले (अजादि) तथा अकारान्त (अ से अन्त होने वाले) शब्द को द्वन्द्व समास में पूर्वपद रखना चाहिए। *(अजाद्यदन्तम् २/२/३३)* यथा -

ईशश्च कृष्णश्च इति ईशकृष्णौ। इन्द्रश्च अग्निश्च इति इन्द्राग्नी।

ईश्वरश्च प्रकृतिश्च इति ईश्वरप्रकृती

अलोऽन्त्य (क्ष) स्वरी वाला शब्द द्वन्द्व समास मे पूर्वपद होता है। *(अल्पाच्तरम्॥ २/२/३४)* यथा शिवश्च केशवश्च इति शिवकेशवौ। रामश्च भरतश्चेति रामभरतौ।

संस्कृत-सम्भाषण

एककम्- 3

(संस्कृत व्यवहार साहस्त्री)

६. परीक्षा (परीक्षा)

परीक्षारम्भः कदा इति ज्ञातं किम् ?
प्रवेशपत्रं स्वीकृतं किम् ?
परीक्षा अग्रे सरिता ?
किं परीक्षायाः समयसारिणी आगता ?
परीक्षा कथम् आसीत् ?
प्रश्नपत्रिका किञ्चित् किलष्टा आसीत्।
अतीव सुलभा आसीत्।
अहं प्रथमश्रेण्याम् उत्तीर्णः।
ह्यः एव फलितांशः प्रकटितः।
अष्टकाभ्यां प्रथमश्रेणी न लब्धा।
प्रश्नेषु विकल्पाः एव नासीत्।
फलितांशः श्वः ज्ञातः भविष्यति.
किं, शिशिरः उत्तीर्णः ?
गदति स्म यत् एकपत्रम् अवशिष्टम् इति।
पठामि, किन्तु स्मरणे किमपि न तिष्ठति।
दशवारं पठितवान्, तथापि न स्मरामि।
प्रायशः द्वितीय श्रेणी लभ्येत।
अस्मत्कं गणे सर्वेऽपि उत्तीर्णाः।
प्रतिशतं कति अङ्काः प्राप्ताः ?

परीक्षा कब होगी, कुछ पता चला ?
क्या प्रवेशपत्र ले लिया ?
परीक्षा एक्सटेंड हो गयी।
परीक्षा की समयसारिणी आई ?
परीक्षा कैसी रही ?
प्रश्नपत्र जरा कठिन था।
बहुत सरल था।
मैं प्रथम श्रेणी में पास हुआ।
कल ही परीक्षा फल निकला।
दो अंकों से प्रथम श्रेणी छूट गई।
वैकल्पिक प्रश्न ही नहीं थे।
कल परीक्षा फल निकलेगा।
क्या शिशिर पास हुआ ?
कह रहा था कि एक पेपर (पेपर) रह गया है.
पढ़ता हूँ, पर कुछ भी याद नहीं रहता।
दस-दस बार पढ़ा, फिर भी याद नहीं रहा।
प्रायः दूसरी श्रेणी मिल सकेगी।
हमारे ग्रुप/दल के सब पास हैं।
प्रतिशत कितने अंक हैं ?

१०. चलच्चित्रम् (चलचित्र)

मासे कति चित्राणि पश्यसि ?
द्वयं त्रयं वा।
चित्रमन्दिरं पूर्णम् आसीत्।
महान् सम्मर्दः आसीत्।
चिटिका न लब्धा किम् ?
चित्रं कथम् आसीत् ?
उत्तमम् इति दृष्टवान्।
कः निर्देशकः ? / कस्य निर्देशनम् ?
तर्हि समीचीनम् एव स्यात्।
संवादः समीचीनः अस्ति/ कथा समीचीना अस्ति।

महिने में कितने चित्र देखते हो ?
दो या तीन।
चित्रमन्दिर भरा था।
बहुत भीड़ थी।
टिकट नहीं मिली क्या ?
सिनेमा कैसा रहा ?
टैक्स-फ्री था, इसलिए देखा
कौन निर्देशक है ? / किस का निर्देशन है ?
तब बहुत अच्छा ही होगा।
संवाद (डैलाग) अच्छा है। / कथा अच्छी है।

एतद् द्विरीचयारं पश्यन् अस्मि।
एकमपि चित्रं शोभनं नास्ति।
परश्वः एव दृष्टवान् अहम्।
केवलं निरर्थकं, जामिता भवति।
तर्हि किमर्थं द्रष्टव्यम् ?
मयापि एकवारं द्रष्टव्यम्।
सर्वे मिलित्वा गतवन्तः किम् ?
केवलं धनं व्यर्थम्।

इसलिये दुबारा देख रहा हूँ।
कोई भी चित्र अच्छा नहीं है।
मैंने परसों ही देख लिया।
अरे बेकार है ; बोर है।
तब क्यों देखें ?
मैं भी एक बार देख लूँ
क्या सभी साथ गए थे ?
व्यर्थ खर्च हुआ।

१९. शिक्षकाः (शिक्षक)

भवतः वेतनश्रेणी का ?
इदानीं सर्वत्र समाना किम् ?
प्राचार्यस्य आदेशं दृष्टवान् किम् ?
अहो ! अस्तु सामान्यम्।
अधिवेतनं लब्धं किम् ?
लिपिकं दृष्टवान् किम् ?
एवं चेत् कथं जीवामः ?
श्रूयते महान् कोलाहलः इति श्रुतवान्।
किम्, समाचारपत्रं पठितम् ?
वेतनं वर्धितम्।
कदा आरभ्य अन्वयः ?
इदानीं कक्षा अस्ति किम् ?
अद्य कक्षां न स्वीकरोमि इति सूचयतु।
किं प्राचार्यः आगतः ?
अस्मिन् मासे कति अवकाशाः ?
परश्वः अवकाशः भवेत् किम् ?
प्रश्नपत्रकं किं सज्जीकृतं ?
अस्मिन् वर्षे फलितांशः कथम् ?
एतावन्तः अङ्काः कथं लब्धाः ?
परीक्षकाणाम् औदार्यम्।
परीक्षा अन्या, योग्यता अन्या।
मौल्यमापनार्थं गच्छति किम् ?
गौलयगापनं कुत्र ?
अस्वस्थः चेदपि आगतवान्।
अद्यतन बालास्तु.....!
आयें, अत्र आगच्छतु।
गणितस्य अध्यापकः अस्ति वा इति पश्यतु।
ते तु बालाः खलु।
किं भोः, सम्यक् पठति खलु ?
संशयः अस्ति चेत् पृच्छन्तु।

आप की कौन-सी वेतन श्रेणी है ?
अब तो हर कहीं एक-सी है न ?
प्राचार्य का आदेश देखा क्या ?
अरे, वह तो सामान्य बात है।
क्या वार्षिक वृद्धि मिली ?
क्या लिपिक बाबू से मिले हो ?
ऐसा है तो कैसे जीयेंगे
सुनते है कि बड़ा हल्ला मचा था।
क्या समाचार पत्र देखा ?
वेतन बढ़ा दिया गया है।
कब से लागू होगा ?
क्या अभी वर्ग लगता है ?
कह दो, आज वर्ग नहीं लेंगे।
क्या प्राचार्य आये हैं ?
इस महीने कितनी दिन छुट्टी है ?
क्या परसों छुट्टी होगी ?
प्रश्नपत्र तैयार किया क्या ?
इस बार का परीक्षा फल कैसा है ?
अरे, इतने अंक कैसे मिले ?
परीक्षकों की उदारता समझिये।
परीक्षा की बात अलग है, योग्यता की बात अलग है।
क्या जाँचकार्य में जायेंगे।
जाँच कार्य कहाँ होगा ?
स्वास्थ्य ठीक नहीं है; फिर भी आया।
आजकल के लड़के तो.....।
अरे, यहाँ आओ।
जरा देखो, गणित के शिक्षक हैं क्या ?
आखिर ये तो लड़के हैं।
भैया/बेटा पढ़ाई अच्छी तरह कर रहे हो न ?
कोई सन्देह हो तो पूछ लेना।

ज्ञातं किम् ?	समझे ?
पुनः एकवारं वदतु।	और एक बार सुनाओ।
एकम् अपि गणितं न कृतवान् किम् ?	गणित का एक भी सवाल नहीं किया ?
एवं चेत् परीक्षायां किं भवेत् ?	ऐसा करोगे तो परीक्षा में क्या होगा ?
सेवकं किञ्चित् आह्वयतु।	नौकर को आवाज दो।
घण्टा नादिता किम् ?	घण्टी बज गई क्या ?
टिप्पणीं लिखन्तु।	टिप्पणी लिख लीजिये।
एकोऽपि न जानाति किम् ?	क्या कोई भी नहीं जानता।
भगवान् ज्ञातवान् किम् ? वदतु किञ्चित्।	क्या तुमने समझ लिया ? तब थोड़ा सुनाओ।
अद्य एतावदेव पर्याप्तम्।	आज इतना ही पर्याप्त है।
इमम् अनुच्छेदं पूर्णं कृत्वा समापयाम।	इस अनुच्छेद को पूरा करके, समाप्त करेंगे।
श्वः इमम् सम्यक् पठित्वा आगन्तव्यम्।	कल इसे अच्छी तरह पढ़कर आना।
किं गृहे किमपि पठसि ?	क्या घर पर कुछ पढ़ते हो ?
किमर्थं कोलाहलः ?	क्यों शोर मचा रहे हो ?
ह्यः कियत् पर्यन्तं पाठितवान् ?	कल कहाँ तक पढ़ाया था ?

१२. स्त्रियः (महिलाएँ)

गृहकार्यं सर्वं समाप्तं किम् ?	क्या घर का सब काम समाप्त हो गया ?
समाप्तप्रायम्।	लगभग समाप्त है।
किं द्वित्राणि दिनानि न दृष्टा !	क्यों दो-तीन दिन से दिखाई नहीं दे रहीं थी।
अहं मातृगृहं गतवती आसम्।	मैं मायके गई थी।
एषु दिनेषु विमला मिलितवती किम् ?	क्या कभी विमला इधर मिली थी ?
कार्यालयतः तस्य आगमनस्य समयः एषः।	यह तो उनके कार्यालय से लौटने का समय है।
ममापि बहु कार्यम् अस्ति।	मेरा भी बहुत काम है।
अतिथयः आगताः सन्ति।	अतिथि आये हुये हैं।
किञ्चित् शर्करां ददाति वा ?	क्या थोड़ी चीनी देंगी ?

शर्करां - शक्कर को	सुपिष्टं - मैदा को
दुग्धं - दूध को	पृथुकं - चिउड़ा को
चायचूर्णं - चाय पाउडर को	चालनीम् - चालनी को

भवतः माता किं करोति स्म ?	तुम्हारी माँ क्या कर रही थी ?
अद्य प्रातः आरभ्य बहु कार्याणि।	आज सवेरे से बहुत सारे काम थे।
तेषां पुत्र्याः विवाहः निश्चितः इति श्रुतवती।	सुनती हूँ कि उनकी बेटी की सगाई पक्की हो गई।
वरः विदेशे अस्ति।	लड़का (वर) विदेश में रहता है।
कन्यायाः कृते किं किम् आभूषणं दास्यति ?	दुलहन को क्या-क्या गहने देंगे ?
मृत्तैलं लब्धं किम् ?	क्या मिट्टी का तेल मिला ?
मृत्तैलं विक्रीयते इति श्रुतवती।	सुनती हूँ कि मिट्टी का तेल बिक रहा है।

१३. पाकः (रसोई)

पाकः समाप्तः किम् ?	क्या रसोई हो गई ?

अद्य कः पाकः ?	आज क्या-क्या बनाया है ?
भोजनं कृतं किम् ?	भोजन किया ?
भवत्याः गृहं कश्चिद् आगतः इव।	लगता है कि आपके घर कोई आए हुए है।
अन्यत् किमपि नास्ति, केवलं रोटिका।	कुछ नहीं लिया, केवल रोटी बनायी थी।
अस्मद्गृहे एकैकस्य एकैका रूचिः।	हमारे घर घर हर एक की अपनी-अपनी रूचि है।

१४. वेषभूषणानि (वस्त्र, आभूषण इत्यादि)

किं भवत्याः शाटिका नूतना ?	क्या आपकी यह साड़ी नई है।
नैव, गतवर्षे एव क्रीतवती।	नहीं तो, पिछले साल ही खरीदी थी।
तथापि नूतनम् इव प्रतिभाति।	फिर भी नई दिखती है।
एतादृशी शाटिका मम समीपे अपि अस्ति।	ऐसी ही साड़ी मेरे पास भी है।
अहं नूतनां शाटिकां क्रीतवती।	मैंने नई साड़ी खरीदी।
अञ्चलः बहु सम्यक् अस्ति।	आँचल बहुत अच्छा है।
एतां कुतः क्रीतवती ?	इसे कहाँ से खरीदी ?
शाटिकायाः अनुरूपं चोलः न लब्धः।	साड़ी के अनुरूप चोली नहीं मिली।
वलयस्य विन्यासः आकर्षकः अस्ति।	चूड़ी कंगन की बनावट बहुत आकर्षक है।
शाटिकया सा प्रौढ़ा इव दृश्यते।	साड़ी के कारण वह बड़ी जैसी दिखाई पड़ती है।
परिणाहः बहु न्यूनः।	पल्ला बहुत कम है।
अहम् अपि एकां क्रेतुम् इच्छामि।	मैं भी एक खरीदना चाहती हूँ।
बहु सुन्दरम् अस्ति खलु एतद् ?	यह बहुत सुन्दर लगता है न ?
भवत्याः एतद् युज्यते।	यह आपकी फबती है।
कियद् दत्तवती ?	कितना दिया ?
मुम्बयीतः मम अग्रजः आनीतवान्।	मुम्बई से मेरे भैया लाये हैं।

१५. कार्यालयः (कार्यालय)

भवान् कति दिनानि अवकाशं स्वीकरोति ?	आप कितने दिनों की छुट्टी ले रहे हैं ?
एषु दिनेषु महान् कार्यभारः।	इन दिनों बहुत काम रहता है।
एतत् सूचनाफलके स्थापयतु।	इसे सूचना-पट पर लगा दो।
अत्र हस्ताक्षरं करोतु।	यहाँ हस्ताक्षर कीजिए।
सः अवकाशं स्वीकृतवान्।	वह छुट्टी पर है।
अस्मिन् विषये पुनरपि चिन्तयामि।	इसके बारे में फिर विचार करूँगा।
आगामिसप्ताहे मां पश्यतु।	अगले हफ्ते मुझसे मिलिये।
अस्मिन् विषये अनन्तरं वदामि।	इसके बारे में बाद में बताऊँगा।
एतत् अहम्. अवश्यमेव स्मरामि।	मैं इसे अवश्य याद रखूँगा।
भवदुक्तं सर्वं ज्ञातवान् भोः।	आप की सारी बातें समझ लीं।
अत्र तस्य एव सर्वाधिकारः।	यहाँ तो उसी की तानाशाही है।
मम कृते कोऽपि दूरभाषः आगतः किम् ?	क्या मेरे लिये फोन आया था ?
आं, भवतः कृते दूरभाषः आगतः आसीत्।	हाँ, आपके लिये फोन आया था।
भवान् कस्मिन् पदे नियुक्तः अस्ति ?	आप किस पद पर नियुक्त हैं ?

एषः सर्वदा आगत्य पीडयति।	यह सदा आकर सताता है।
इदानीं समयः अतीतः।	अब समय बीत गया।
कृपया श्वः आगच्छतु।	कृपया कल आइये।
सः आगतवान् इति स्मरामि।	ऐसा याद है कि वह आया।
पञ्चवादनपर्यन्तम् अत्रैव आसीत्।	पाँच बजे तक यहीं रहा।
माम आहूतवान् किम् ?	क्या मुझे बुलाया ?
तस्य व्यवस्थाम् अहं करोमि।	उसका प्रबन्ध मैं कर दूँगा।
कार्यालयस्य कदा अवकाशः ?	कार्यालय का अवकाश कब होता है।
एतद्विषये श्वः पुनरपि स्मारयतु।	इसके बारे में कल फिर से याद दिलाना।
तम् अत्र आगन्तुं सूचयतु।	उन्हें यहाँ आने के लिये कहो।
किमर्थम् इदानीम् अपि कार्यं न आरब्धम् ?	अभी तक काम क्यों नहीं शुरू किया ?
अन्येषाम् उपहासेनैव कालं यापयति सः।	वह तो दूसरों की मजाक उड़ाने में ही समय बिताता है।
मया किं करणीयं, वदतु।	बताइये कि मुझे क्या करना है।
अहं किं करोमि भोः ?	मैं क्या करूँ ?
अस्तु, परिशीलयामः।	ठीक है, देखेंगे।
चलतु, किञ्चित् काफी पिबामः।	चलिये, थोड़ी काफी पी लें।
भवान् शीघ्रं प्रत्यागमिष्यति खलु ?	आप जल्दी ही वापस आयेंगे न ?
कृपया उपविशतु।	कृपया बैठिये।
पञ्चनिमेषेषु कृत्वा ददामि।	पाँच मिनट में कर के देता हूँ।
अद्य सः अत्र नास्ति।	आज वह यहाँ नहीं है।
सः एकं सप्ताहाभ्यन्तरे आगच्छेत्।	वह हफ्ते भर के बाद आयेगा।

१६. स्वास्थ्यम् (स्वास्थ्य)

मम स्वास्थ्यं समीचीनं नास्ति।	मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं है।
महती पादवेदना।	पैर में बहुत दर्द है।
सामान्यतः शिरोवेदना तदा तदा आगच्छति।	सिरदर्द तो अक्सर सताया करता है।
किञ्चित् ज्वरः इव ..... ।	बुखार सा लगता है।
वैद्यं पश्यतु।	डाक्टर से मिलिये।
मम वमनशङ्का।	जी मिचला रहा है।
वैद्यस्य निर्देशनं स्वीकरोतु।	डाक्टर की सलाह लो।
किमर्थं कण्ठः अवरुद्धः ?	गला क्यों बन्द है ?
अहम् अतीव श्रान्तः।	मैं बहुत थक गया हूँ।
तस्य आरोग्यं कथम् अस्ति ?	उनका स्वास्थ्य कैसा है।
अद्य किञ्चित् समीचीनम् अस्ति।	आज तो कुछ अच्छा है।
प्रातः आरभ्य लघु शिरोवेदना।	सबेरे से सिर में थोड़ा दर्द है।
आरोग्यं तावत् समीचीनं नास्ति।	स्वास्थ्य उतना अच्छा नहीं है।
वैद्यं कदा दृष्टवान् ?	डाक्टर से कब मिले थे ?
उत्साहः एव नास्ति भोः।	उत्साह ही नहीं है।
ह्यः तु स्वस्थः आसीत्।	कल तो ठीक ही था।

किम् अद्य अहं भोजनं कर्तुं शक्नोमि ?
अद्य ज्वरः कथम् अस्ति ?
यथावत्।
कदा कदा उदरशूलेन भवति खलु ?
ज्वरपीडितः किम् ? कदा आरब्धः ?
अहो ! रक्तं स्रवति !
अपघाते स जीवितः इत्येव विशेषः।
सः चिकित्सालयं प्रवेशितः।
मम शिरः भ्रमति इव।

क्या आज मैं भोजन कर सकता हूँ ?
आज बुखार कैसा है ?
वैसा ही है।
कभी कभी पेट में दर्द होता है न ?
क्या बुखार है ? कब से ?
अहो ! खून बह रहा है !
आश्चर्य की बात है कि वह दुर्घटना में बच गया।
वह अस्पताल में दाखिल हुआ।
मुझे चक्कर सा आ रहा है।

१७. समयः (समय)

कः समयः ?
सपाद-चतुर्वादनम्।
त्रिवादने अवश्यं गन्तव्यम् अस्ति।
त्रिवादने एकं यानम् अस्ति।
पादोन-षड्वादने भवान् मिलति किम् ?
सार्ध-पञ्चवादने अहं गृहे तिष्ठामि।
पञ्चान्यून-दशवादने मम घटी रुद्धगति।
संस्कृतवार्ताप्रसारः सायं दशाधिक-षड्वादने

सार्वहिण्टात्मकः कार्यक्रमः।
षड्वादनपर्यन्तं तत्र किं करोषि ?
विद्यालयः दशवादनतः किम् ?
इतोऽपि गणेष्टं समयः अस्ति।
सः षड्वादनतः सप्तवादनपर्यन्तं योगासनम् करोति।
मम घटी निमेषद्वयम् अग्रे सरति।
समये आगच्छतु
अरे ! दशवादनम् !
भवतः घटी आकाशवाणी समयम् अनुसरति किम् ?
इदानीं भवतः समयः कः ?
किमर्थम् एतावान् विलम्बः ?
इदानीं भवतः समयावकाशः अस्ति किम् ?
रविवासरे कः दिनाङ्कः ?
रविवासरे चतुर्विंशतितमः दिनाङ्कः।
पञ्चदशदिनाङ्कतः वासरः ?
भवतां विद्यालयः कदा आरब्धः ?
जून-प्रथमदिनाङ्के।
भवतः जन्मदिनाङ्कः कः ?
अष्टादश अक्टूबर षडशीतिः।

क्या समय है ?
सवा चार।
दो बजे अवश्य जाना है।
तीन बजे एक गाड़ी है।
कल पौने छः बजे आप मिलेंगे ?
साढ़े पाँच बजे मैं घर पर रहता हूँ।
दस बजने में पाँच मिनट रहते मेरी घड़ी बन्द हो गई।
छः बजकर दस मिनट पर संस्कृत में समाचार प्रसारित होता है।

आई घण्टे का कार्यक्रम है।
छः बजे तक वहाँ क्या करोगे ?
क्या स्कूल दस बजे से है ?
अभी काफी समय है।
वह छः बजे से सात बजे तक योगासन करता है।
मेरी घड़ी दो मिनट तेज चलती है।
समय पर आना।
अरे ! दस बज गये !
क्या आप की घड़ी रेडियो समय से मिलती है ?
अभी ठीक समय हुआ है ?
इतनी देर क्यों हुई ?
क्या आपके पास समय है ?
रविवार को क्या दिनांक है ?
रविवार को चौबीस दिनांक है।
पन्द्रहवें दिनांक को कौन सा दिन होगा ?
आप लोगों का स्कूल कब खुला ?
जून की पहली तारीख को।
आपका जन्मदिनांक क्या है ?
अठारह अक्टूबर उन्नीस सौ छियासी।

१८. दूरभाषा (दूरभाष)

हरिः ॐ ! संस्कृत-भारती !
संस्कृतभारत्याः कार्यालयः, किम् ?
राजु महोदयस्य गृहं किम् ?
एषा षट्-शून्यं-शून्यं-शून्यं भवतीरे किम् ?
कः तत्र ? / कः सम्भाषणं करोति ?
अहं कृष्णः।
कः अपेक्षितः ?
कृष्णः गृहे अस्ति किम् ?
क्षम्यताम्, सः गृहे नास्ति।
कृपया एतत् कृष्णं सूचयतु।
कृपया तम् आनयतु।
अस्तु, एकक्षणं तिष्ठतु।
कः दूरभाषां कृतवान् इति वदामि ?
श्वः सः अत्र आगच्छेत
सः श्वः पुनः दूरभाषां करोमि।
किम्, इदानीमपि न आगतवान् ?
तस्य दूरभाषासंख्या वदति किम् ?
गृहे मिलेत् किम् ?
चैत्रैत्रः इदानीमपि न आगतवान्।
अवश्यं सूचयिष्यामि।
स्थापयामि किम् ?
किञ्चित् उच्चैः वदतु।

हलो ! संस्कृत भारती।
क्या संस्कृत-भारती का कार्यालय है।
क्या राजुजी का घर है ?
यह छः शून्य शून्य शून्य (और और और) कहाँ से
कौन बहाँ ? / कौन बोल रहा है ?
मैं कृष्ण हूँ।
किसे चाहते हैं ?
क्या कृष्ण घर में है।
क्षमा कीजिये, वह घर पर नहीं है।
कृपया यह कृष्ण को कह दीजिये।
कृपया उन्हें बुलाइये।
ठीक है, जरा ठहरिये।
किसने फोन किया यह बताऊँ ?
वह कल आये।
अच्छा, कल फिर से फोन करेंगे।
क्या अभी भी नहीं आये ?
क्या उनका फोन नंबर बताओगे ?
क्या घर पर मिलेंगे ?
चैत्रैत्र से अभी तक नहीं आये।
अवश्य बताऊँगा।
क्या रख दूँ ?
जरा जोर से बोलिये।

१९. वाणिज्यम् (वाणिज्य)

रूप्यकस्य कति फलानि ?
एकस्य पञ्चविंशतिः पैसाः।
रूप्यकस्य पञ्च।
शुद्धं भवनीतं ददातु।
पुस्तकानि समाप्तानि।
एतद् पुस्तकं नास्ति किम् ?
तण्डुलः सम्यक् नास्ति।
किं वैशालिः रूप्यकाणि ? नहि गारतु।
आवश्यकम् आसीत्, परन्तु भवान् मूल्यम् अधिकं वदति।
तत्र गमनं मास्तु भो, सः बहुमूल्यं वदति
कृपया देयकं/प्राप्तिपत्रं ददातु
दश पैसाः न्यूनाः सन्ति।
मम व्यवहारं समापयतु।
भवतः वाणिज्यं कथमस्ति ?

एक रुपये में कितने फल दोगे ?
पच्चीस पैसे में एक।
रुपये में पांच।
शुद्ध मक्खन दीजिये।
पुस्तकें समाप्त हो गई।
यह पुस्तक नहीं है क्या ?
चावल अच्छा नहीं है।
क्या वीरा रुपये ? तब नहीं चाहिये।
अरे बातिये था पर आप महँगा बोलते हैं
उधर मत जाइये, वह बहुत महँगा बोलता है।
कृपया बिल/रसीद दीजिये।
दस पैसे कम है।
मेरा हिसाब समाप्त कर दीजिये।
आप का व्यापार कैसे चल रहा है ?

एकक - 3(ख)

वाच्य

(कर्तृवाच्य कर्मवाच्य भाववाच्य)

क्रिया के वाच्य - संस्कृत भाषा में क्रिया बनाने के लिए धातुओं के रूप तीन वाच्यों में होते हैं - कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य एवं भाववाच्य। सकर्मक धातुओं के रूप कर्तृवाच्य एवं कर्मवाच्य में होते हैं तथा अकर्मक धातुओं के रूप कर्तृवाच्य एवं भाववाच्य में होते हैं।

कर्तृवाच्य - इसमें क्रिया का वाच्य कर्ता होता है। कर्तृवाच्य में कर्ता में प्रथमा और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है। क्रिया का पुरुष, वचन आदि कर्ता के अनुसार होता है, यथा - रामः रावणं हन्ति।

कर्मवाच्य - इसमें क्रिया का वाच्य कर्म होता है। कर्मवाच्य में कर्ता में तृतीया तथा कर्म में प्रथमा विभक्ति होती है। क्रिया कर्म के अनुसार चलती है तथा क्रिया की धातु भले ही किसी पद की हो, किन्तु कर्मवाच्य में धातु रूप केवल आत्मनेपद में चलते हैं; यथा रामेण रावणः हन्यते।

भाववाच्य - यह वाच्य केवल अकर्मक क्रिया में ही आता है। भाववाच्य में कर्ता तृतीया विभक्ति में होता है तथा क्रिया सदैव प्रथम पुरुष, एकवचन में रहती है। भाववाच्य में भी धातु किसी भी पद की हो, किन्तु उसके रूप केवल आत्मनेपद में चलते हैं, यथा मया शय्यते।

कर्मवाच्य एवं भाववाच्य के रूप बनाने समय निम्नलिखित नियम विशेषतः ध्यातव्य हैं -

१. सार्वधातुक (लट्, लोट्, विधिलिङ्, लङ्) लकारों में धातु के स्थान पर कोई धातादेश (गम् को गच्छ्, स्था को तिष्ठ्, दृश् को पश्य् आदि) नहीं होता और कोई गुण या वृद्धि भी नहीं होती।

२. सार्वधातुक लकारों में धातु और प्रत्यय के मध्य यक् (य) जोड़ दिया जाता है। यथा गम् य ते-गम्यते। भिद् य ते = भिद्यते आदि।

३. दा, दृ, दो, धे, गा, पा, हा, मे और सो धातुओं का अन्तिम स्वर 'इ' में बदल जाता है, यथा दीयते, धीयते, मीयते, हीयते, पीयते, सीयते आदि। अन्य धातुओं का यथावत् रहता है, यथा भूयते, ध्यायते, ज्ञायते आदि।

४. अनेक धातुओं के बीच का अनुस्वार लुप्त कर दिया जाता है। यथा - संश्-दृश्यते; ध्वंस्-ध्वस्यते बन्ध्-बध्यते; भंक्ष् = भक्ष्यते; गंथ् = ग्रथ्यते; रंज् = रज्यते; शंस्-शस्यते आदि।

५. आर्धधातुक (शेष छह) लकारों में कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रूप कर्तृवाच्य, आत्मनेपद के सदृश ही चलते हैं।

कतिपय मुख्य धातुओं के कर्मवाच्य तथा भाववाच्य के रूप

भ्वादिगण पठ् कर्मवाच्य

लट् लकार			लोट् लकार		
पठ्यते	पठ्येते	पठ्यन्ते	पठ्यताम्	पठ्येताम्	पठ्यन्ताम्
पठ्यसे	पठ्येथे	पठ्यध्वे	पठ्यस्व	पठ्येथाम्	पठ्यध्वम्
पठ्ये	पठ्यावहे	पठ्यामहे	पठ्यै	पठ्यावहै	पठ्यामहै
विधिलिङ्			लङ् लकार		
पठ्येत	पठ्येयाताम्	पठ्येरन्	अपठ्यत	अपठ्येताम्	अपठ्यन्त
पठ्येथाः	पठ्येयाथाम्	पठ्येध्वम्	अपठ्यथाः	अपठ्येथाम्	अपठ्यध्वम्
पठ्येय	पठ्येवहि	पठ्येमहि	अपठ्ये	अपठ्यावहि	अपठ्यामहि
लिट् लकार			लृट् लकार		
पेठे	पेठाते	पेठिरे	अपाठिष्यत	अपाठिष्येताम्	अपाठिष्यन्त
पेठिषे	पेठाथे	पेठिध्वे	अपाठिष्यथाः	अपाठिष्येथाम्	अपाठिष्यध्वम्

पेठे	पेठिवहे	पेठिमहे	अपाठिषे	अपाठिष्वहि	अपाठिष्महि
लुट् लकार			लृट् लकार		
पठिता	पठितारौ	पठितारः	पठिष्यते	पठिष्येते	पठिष्यन्ते
पठितासे	पठितासाथे	पठिताध्वे	पठिष्यसे	पठिष्येथे	पठिष्यध्वे
पठिताहे	पठितास्वहे	पठितास्महे	पठिष्ये	पठिष्यावहे	पठिष्यामहे
आशीर्लिङ्			लृङ् लकार		
पठिषीष्ट	पठिषीयास्ताम्	पठिषीरन्	अपठिष्यत	अपठिष्येताम्	अपठिष्यन्त
पठिषीष्ठाः	पठिषीयास्थाम्	पठिषीध्वम्	अपठिष्यथाः	अपठिष्येथाम्	अपठिष्यध्वम्
पठिषीय	पठिषीवहि	पठिषीमहि	अपठिष्ये	अपठिष्यावहि	अपठिष्यामहि

जि (जीतना) कर्मवाच्य

लट् लकार					लोट् लकार
जीयते	जीयेते	जीयन्ते	जीयताम्	जीयेताम्	जीयन्ताम्
जीयसे	जीयेथे	जीयध्वे	जीयस्व	जीयेथाम्	जीयध्वम्
जीये	जीयावहे	जीयामहे	जीयै	जीयावहै	जीयामहै
विधिलिङ्			लङ् लकार		
जीयेत	जीयेयाताम्	जीयेरन्	अजीयत	अजीयेताम्	अजीयन्त
जीयेथाः	जीयेयाथाम्	जीयेध्वम्	अजीयथाः	अजीयेथाम्	अजीयध्वम्
जीयेय	जीयेवहि	जीयेमहि	अजीये	अजीयावहि	अजीयामहि
लिट् लकार			लुट् लकार		
जिग्ये	जिग्याते	जिग्यिरे	अजायि	अजायिषाताम्	अजायिषत
जिग्यिषे	जिग्याथे	जिग्यिढ्वे	अजायिष्ठाः	अजायिषाथाम्	अजायिढ्वम्
जिग्ये	जिग्यिवहे	जिग्यिमहे	अजायिषि	अजायिष्वहि	अजायिष्महि
लुट् लकार			अथवा		
जेता	जेतारौ	जेतारः	अजायि	अजायिताम्	अजायिषत
जेतासे	जेतासाथे	जेताध्वे	अजेष्ठाः	अजेषाताम्	अजेढ्वम्
जेताहे	जेतास्वहे	जेतास्महे	अजेषि	अजेष्वहि	अजेष्महि
अथवा			लृट् लकार		
जायिता	जायितारौ	जायितारः	जेष्यते	जेष्येते	जेष्यन्ते
जायितासे	जायितासाथे	जायिताध्वे	जेष्यसे	जेष्येथे	जेष्यध्वे
जायिताहे	जायितास्वहे	जायितास्महे	जेष्ये	जेष्यावहे	जेष्यामहे
आशीर्लिङ्			लृङ् लकार		
जेषीष्ट	जेषीयास्ताम्	जेषीरन्	अजेष्यत	अजेष्येताम्	अजेष्यन्त
जेषीष्ठाः	जेषीयास्थाम्	जेषीढ्वम्	अजेष्यथाः	अजेष्येथाम्	अजेष्यध्वम्
जेषीय	जेषीवहि	जेषीमहि	अजेष्ये	अजेष्यावहि	अजेष्यामहि
अथवा			अथवा (लृङ् लकार)		
जायिषीष्ट	जायिषीयास्ताम्	जायिषीरन्	अजायिष्यत	अजायिष्येताम्	अजायिष्यन्त
जायिषीष्ठाः	जायिषीयास्थाम्	जायिषीढ्वम्	अजायिष्यथाः	अजायिष्येथाम्	अजायिष्यध्वम्
जायिषीय	जायिषीवहि	जायिषीमहि	अजायिष्ये	अजायिष्यावहि	अजायिष्यामहि

भी कर्मवाच्य

लट् लकार	लङ् लकार

एकक - ३(ग)

कृत्प्रत्यय

धातोः ३/१/९१ - धातु से जिन प्रत्ययों को जोड़कर संज्ञा, विशेषण अथवा अव्यय शब्द बनाए जाते हैं, उन को कृत् प्रत्यय कहते हैं। कृत् प्रत्यय जुड़ कर बना हुआ शब्द कृदन्त (कृत् है जिसके अन्त में) कहलाता है। कृदन्त संज्ञा अथवा विशेषण शब्दों के सभी विभक्तियों एवं वचनों में रूप चलते हैं; और जो कृदन्त शब्द अव्यय होते हैं, वे एकरूप रह जाते हैं।

कृदतिङ् ३/१/९३ - कृत् प्रत्ययों और तिङ् प्रत्ययों में मुख्य अन्तर यही है कि तिङ् प्रत्यय जुड़ने से सदा क्रिया रूप ही बनते हैं। किन्तु कृत् प्रत्यय जुड़ कर संज्ञा, विशेषण या अव्यय शब्द बनते हैं। एकाधिक कृत् प्रत्यय जुड़ कर बना हुआ शब्द क्रिया के रूप में प्रयुक्त अवश्य होता है, किन्तु उसके लकार रूप नहीं चलते, कर्ता अथवा कर्म अथवा भाव के अनुसार शब्द रूप ही चलते हैं :

यथा - रामः रावणं हतवान्। रामेण रावणः हतः। सः गतः। मया पठनीयम् आदि।

तव्यत्तव्यानीयरः ३/१/९६ केलिमर् उपसंख्यानम् (वार्तिक) - तव्यत् (तव्य), तव्य, अनीयर (अनीय) तथा केलिमर् (एलिम) प्रत्यय प्रायः सभी धातुओं से जोड़े जाते हैं।

तव्यत् एवं तव्य प्रत्यय में भेद नहीं है। तव्यत् प्रत्ययान्त शब्द स्वरित होते हैं एवं अनीयर् प्रत्ययान्त शब्द मध्योदात्त होते हैं। किन्तु स्वरगत ये विशेषताएँ वैदिक संस्कृत में हैं पाई जाती हैं, भाषा संस्कृत में नहीं।

तव्यत्, तव्य अथवा अनीयर् प्रत्यय जुड़ते समय -

१. स्वरान्त धातु के अन्तिम स्वर को गुण हो जाता है (अर्थात् इ, ई को, ए; उ, ऊ को ओ तथा ऋ ॠ को अर् हो जाता है।) यथा -

नी + तव्यत् = ने + तव्य = नेतव्यः। भू + तव्यत् = भो + तव्य = भोतव्यः

२. ऐकारान्त धातुओं के 'ऐ' को 'आ' हो जाता है। यथा - गै = गातव्यः, गानीयः। ध्यै = ध्यातव्यः, ध्यानीयः आदि।

३. व्यंजनान्त धातुओं की उपधा के ह्रस्व स्वर को गुण होता है। यथा -

लिप् + तव्यत् = लेप्तव्यः ; लिप् + अनीयर् = लेपनीयः।

पुष् + तव्यत् = पोष्टव्यः; पुष् + अनीयर् = पोषणीयः।

४. तव्यत् प्रत्यय जोड़ते समय सेट् धातुओं में धातु तथा प्रत्यय के मध्य में 'इ' जुड़ जाता है। यथा - पठ् + तव्यत् = पठितव्यम्; चर् = चरितव्यः आदि।

धातु में तव्यत् एवं अनीयर प्रत्यय जुड़ कर बने हुए कतिपय उदाहरण निम्नांकित हैं -

धातु	तव्यत्	अनीयर्	धातु	तव्यत्	अनीयर्
अद् (खाना)	अत्तव्यम्	अदनीयम्	अदनीयम्	प्रच्छ् (पूछना)	प्रष्टव्यः प्रच्छनीयः
अस् (होना)	भवितव्यः	भवनीयः	भुज् (खाना)	भोक्तव्यः	भोजनीयः
अधि+इ (पढ़ना)	अध्येतव्यः	अध्ययनीयः	लभ् (पाना)	लब्धव्यः	लभनीयः
कृ (करना)	कर्त्तव्य	करणीयः	वच् (बोलना)	वक्तव्यः	वचनीयः
गम् (जाना)	गन्तव्यः	गमनीयः	शी (लेटना)	शयितव्यः	शयनीयः
त्यज् (छोड़ना)	त्यक्तव्यः	त्यजनीयः	स्था (ठहरना)	स्थातव्यः	स्थानीयः
दृश् (देखना)	द्रष्टव्यः	दर्शनीयः	स्पृश् (छूना)	स्प्रष्टव्यः	स्पर्शनीय
नम् (प्रणाम करना)		नन्तव्यः	नमनीयः	स्मृ (याद करना)	स्मर्तव्यः स्मरणीयः
नृत् (नाचना)	नर्तितव्याम्	नर्तनीयः	सृज् (रचना)	स्रष्टव्यः	सर्जनीयः
पच् (पकाना)	पक्तव्यम्	पचनीयः	हृ (हरण करना)	हर्तव्यः	हरणीयः

यत् प्रत्यय

अचो यत् 3/1/97 - 'चाहिए' अर्थ को सूचित करने के लिए स्वरान्त धातु से यत् (य) प्रत्यय जोड़ा जाता है और धातु के स्वर को गुण हो जाता है। यथा -

चि + यत् = चेयम्। नी + यत् = नेयम्। श्रु + यत् = श्रव्यम्। भू + यत् = भव्यम् आदि।

पोरुपधात् 3/1/98 - यदि धातु पवर्गान्त हो और उसकी उपधा में 'अ' हो, तो 'चाहिए' अर्थ में यत् प्रत्यय होता है। यथा -

जप् + यत् = जप्यः। लभ् + यत् = लभ्यः। गम् + यत् = गम्य. आदि।

ईद्यति 6/4/65 - यत् प्रत्यय जुड़ते समय आकारान्त धातु के 'आ' को 'ई' हो जाता है और 'ई' को गुण हो जाता है। यथा -

दा + यत् = दी + यत् = देयम्। हा + यत् = ही + य = हेयम्। इसी प्रकार पा = पेयम्; धा = धेयम्; ज्ञा = ज्ञेयम्। स्था = स्थेयम् आदि

आदेच उपदेशेऽशिति - ए, ओ, ऐ,, औ में अन्त होने वाली धातुओं में यत् प्रत्यय जुड़ने पर ए, ओ, ऐ, औ को 'आ' हो जाता है; पुनः ईद्यति सूत्र से 'आ' को ई और गुण होता है। यथा -

छो (काटना) + यत् = छा + य = छी + य = छेयम् (काटने योग्य)। इसी प्रकार ग्लै = ग्लेयम्; ध्यै = ध्येयम् आदि

कुछ अन्य धातुओं के साथ भी यत् प्रत्यय जुड़ता है -

शक् = शक्य	वह् = वह्य
सह् = सह्य	ऋ = अर्य (स्वामी या वैश्य)
शप् = शप्य	(ब्राह्मण अर्थ में आर्य)
हन् (वध् आदेश) = वध्य	जन् = जन्य
गद् = गद्य	तर्क् = तर्क्य (हँसने योग्य)
मद् = मद्य	शस् = शस्य (हिंसा योग्य)
चर् = चर्य	यत् = यत्य
यम् = यम्य	

ण्यत् प्रत्यय

ऋहलोर्ण्यत् 3/1/124 - स्वरान्त तथा हलन्त (व्यंजनान्त) धातुओं से 'चाहिए' अर्थ में ण्यत् (य) प्रत्यय जोड़ा जाता है।

ण्यत् प्रत्यय जोड़े जाते समय -

(1) धातु के अन्तिम स्वर की वृद्धि हो जाती है। यथा -

कृ + ण्यत् = कार् + य = कार्यः। हृ + ण्यत् = हार्यः। इसी प्रकार -

तृ = तार्यः, भृ = भार्या (पत्नी), धृ = धार्यः आदि।

(2) धातु की उपधा के 'अ' को 'आ' हो जाता है। यथा

पच् = ण्यत् = पाठ्यम्। पच = पाक्यम्, पाक्यम्। गद् = गादयम्, गाद्यम्। त्याज् = त्याज्यम्। भुज् = भोज्यम्

(3) उपधा में स्थित अ, इ, उ को अन्य स्वर की गुण हो जाता है। यथा

लिख् + ण्यत् = लेख्यम्। छिद् = छेद्यः। भिद् = भेद्यः। लिह् = लेह्यः।

भुज् = भोज्यः, भोग्यः। युज् = योज्यः, योग्यः। ऋच = अर्च्यम्। वृष = वर्ष्यम्।

ऑरावश्यके 3/1/128 - 'आवश्यकता' अर्थ बोध कराने के लिए 'उ' अथवा 'ऊ' से अन्त होने वाली धातुओं में ण्यत् प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा

श्रु + ण्यत् = श्राव्यः (अवश्य सुनने योग्य)। भू = भाव्यः। पू = पाव्यः। लू = लाव्यः।

भूतकालिक कृत् प्रत्यय

क्त, क्तवतु

क्तक्तवतू निष्ठा १/१/२६ भूते ३/२/८४ - क्त (त) एवं क्तवतु (तवत्) प्रत्यय की निष्ठा संज्ञा है तथा ये दोनों प्रत्यय भूतकाल के अर्थ का बोध कराते हैं। 'निष्ठा' शब्द का अर्थ है - समाप्ति। अतः क्त एवं क्तवतु प्रत्यय किसी कार्य की समाप्ति का बोध कराते हैं। 'क्त' प्रत्यय का 'त' एवं 'क्तवतु' प्रत्यय का 'तवत्' शेष रहता है। समाप्ति या भूतकाल का अर्थ बताने के लिए ये दोनों प्रत्यय प्रायः सभी धातुओं से जोड़े जाते हैं। क्त प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुल्लिंग में 'राम' के सदृश, नपुंसकलिंग में 'फल' के सदृश तथा स्त्रीलिंग में 'आ' जोड़ कर 'रमा' के सदृश चलते हैं। क्तवतु प्रत्ययान्त शब्दों के रूप पुल्लिंग में 'भीमत्' के सदृश, नपुंसकलिंग में 'जगत्' के सदृश और स्त्रीलिंग में 'ई' जोड़कर नदी के सदृश चलते हैं।

सामान्यतः क्त प्रत्यय केवल एवं खल् प्रत्ययों की भाँति कर्मवाच्य एवं भाववाच्य में प्रयुक्त होता है, यथा तेन पुस्तकं पठितम्। रामेण भुक्तम् आदि। क्तवतु प्रत्ययान्त शब्द सदा कर्तृवाच्य में प्रयोग किए जाते हैं; यथा - अहं पुस्तकं पठितवान्। किन्तु कभी कभी क्त प्रत्यय कर्तृवाच्य में भी प्रयुक्त होता है।

गत्यर्थकर्मक-शिलष्-शीङ्-स्थास्सवस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च - ३/४/७२ - निम्नलिखित धातुओं के साथ क्त प्रत्यय कर्तृवाच्य में होता है

गत्यर्थक धातुएँ	-	सः कलिंगान् गतः। देवदत्तः चलितः।
अकर्मक धातुएँ		सः ग्लानः।
श्लिष् धातु	-	लक्ष्मीमाश्लिष्टो हरिः (विष्णु ने लक्ष्मी का आलिंगन किया।)
शी धातु	-	विष्णुः शेषम् अधिशयितः (विष्णु शेषनाग पर सोए।)
स्था धातु		महेशः कैलासम् अधिष्ठितः (शिव कैलास पर बैठे।)
आस् धातु	-	हरिः शिवम् उपासितः (विष्णु ने शिव की पूजा।)
वस् धातु		बाला शिवरात्रिम् उषितः (बालिका ने शिवरात्रि का उपवास किया।)
जन् धातु	-	लक्ष्मणः रामम् अनुजातः।
रुह् धातु	-	बालकः युवावस्थाम् आरूढः।

जृ धातु (पुराना होना या बुड्ढा होना) - सः विश्वमनुजीर्णः। (वह संसार के पीछे बुड्ढा हो गया।)

नपुंसके भावे क्तः - ३/३/११४ - कभी-कभी 'क्त' प्रत्यय नपुंसकलिंग में भाववाचक संज्ञा बनाने में भी प्रयुक्त होता है। यथा - हरितम्, गतम्, श्रयितम् आदि।

निष्ठा प्रत्यय जुड़ते समय धातु अथवा प्रत्यय में कुछ परिवर्तन होते हैं -

(१) सेट् धातु में धातु तथा प्रत्यय के बीच 'इ' जुड़ जाता है - पठितः, हरितः, उदितः, उषितः आदि।

(२) ऋकारान्त तथा मकारान्त धातुओं के 'ऋ' तथा 'म' का लोप हो जाता है - हृतः, गतः, भग्नः आदि।

(३) रकारान्त तथा दकारान्त धातु से परे निष्ठा के 'त' को 'न' हो जाता है और धातु के 'द' को भी 'न' होता है। शृ = शीर्णः। भिद् = भिन्नः।

(४) सम्प्रसारण वाली धातुओं में निष्ठा प्रत्यय जुड़ने पर भी सम्प्रसारण हो जाता है अर्थात् य, व, र, ल क्रमशः इ, उ, ऋ, ऌ होता है। यथा-वद् = उदितः। वच् = उक्तः।

(५) चुरादिगणी धातुओं तथा णिजन्त धातुओं के 'अय' का लोप होता है। यथा - चोरितः। कथितः

(६) संयुक्ताक्षर से आरम्भ होने वाली तथा आकार में अन्त होने वाली एवं श, ष, र, ल् अक्षर रखने वाली धातु के साथ निष्ठा के 'त' को 'न' हो जाता है। यथा - म्ले = म्लानः। दो – दानः आदि।

क्त एवं क्तवतु प्रत्ययान्त कुछ प्रमुख धातुओं के रूप प्रथमा विभक्ति एकवचन, पुल्लिंग में नीचे दिए जा रहे हैं

एकक 3

धातु	क्तप्रत्ययान्त	रूप	क्तवतुप्रत्ययान्त	रूप
अद्	जग्ध	जग्धः	जग्धवत्	जग्धवान्
अर्च्	अर्चित	अर्चितः	अर्चितवत्	अर्चितवान्
अस्	भूत	भूतः	भूतवत्	भूतवान्
अधि + इ	अधीत	अधीतः	अधीतवत्	अधीतवान्
कृ	कृत	कृतः	कृतवत्	कृतवान्
जि	जित	जितः	जितवत्	जितवान्
त्यज्	त्यक्त	त्यक्तः	त्यक्तवत्	त्यक्तवान्
दृश्	दृष्ट	दृष्टः	दृष्टवत्	दृष्टवान्
नृत्	नृत्त	नृत्तः	नृत्तवत्	नृत्तवान्
प्रच्छ्	पृष्ट	पृष्टः	पृष्टवत्	पृष्टवान्
भज्	भक्त	भक्तः	भक्तवत्	भक्तवान्
भुज्	भुक्त	भुक्तः	भुक्तवत्	भुक्तवान्
भू	भूत	भूतः	भूतवत्	भूतवान्
लभ्	लब्ध	लब्धः	लब्धवत्	लब्धवान्
शी	शयित	शयितः	शयितवत्	शयितवान्
स्था	स्थित	स्थितः	स्थितवत्	स्थितवान्
स्पृश्	स्पृष्ट	स्पृष्टवत्	स्पृष्टवान्	
स्मृ	स्मृत	स्मृतः	स्मृतवत्	स्मृतवान्
हृ	हृत	हृतः	हृतवत्	हृतवान्
ग्लै	ग्लान	ग्लानः	ग्लानवत्	ग्लानवान्
घ्रा	घ्राण	घ्राणः	घ्राणवत्	घ्राणवान्
घ्रा	घ्राण	घ्राणः	घ्राणवत्	घ्राणवान्
म्लै	म्लान	म्लानः	म्लानवत्	म्लानवान्
स्त्यै	स्त्यान	स्त्यानः	स्त्यानवत्	स्त्यानवान्
ध्मा	ध्यान	ध्यानः	ध्यानवत्	ध्यानवान्
ध्या	ध्यात	ध्यातः	ध्यातवत्	ध्यातवान्
ख्या	ख्यात	ख्यातः	ख्यातवत्	ख्यातवान्
मद्	मत्त	मत्तः	मत्तवत्	मत्तवान्
वद्	उक्त	उक्तः	उक्तवत्	उक्तवान्
वद्	उदित	उदितः	उदितवत्	उदितवान्
वस्	उषित	उषितः	उषितवत्	उषितवान्
वह्	ऊढ	ऊढः	ऊढवत्	ऊढवान्
सह्	सोढ	सोढः	सोढवत्	सोढवान्

वर्तमानकालिक कृत् प्रत्यय

शतृ, **शानच्** -

लटः शतृशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ३/२/१२४। तौ सत् ३/२/१२७ - अप्रथमान्त (प्रथमा विभक्ति से भिन्न) के साथ समानाधिकरण होने पर लट् के स्थान पर शतृ और शानच् प्रत्यय आते हैं। (कहीं कहीं प्रथमान्त से समानाधिकरण होने पर भी ये दोनों प्रत्यय धातु से जुड़ते हैं।)

पढ़ता हुआ, खाता हुआ, दौड़ता हुआ आदि अर्थ का बोध कराने के लिए शतृ (अत्) और शानच् (आन) प्रत्यय धातु से जोड़े जाते हैं। इन दोनों प्रत्ययों को 'सत्' प्रत्यय भी कहा जाता है। सत् का अर्थ है वर्तमान या विद्यमान। शतृ-शानच् प्रत्यय धातु के जुड़कर उस धातु के द्वारा सूचित वर्तमानकालिक क्रिया का बोध विशेषण के रूप में कराते हैं। इन प्रत्ययों के प्रयोग से ज्ञान होता है कि वह क्रिया अभी चल रही है, यथा - गच्छन्तं हरितं पश्य। शतृ प्रत्यय परस्मैपदी धातुओं से तथा शानच् प्रत्यय आत्मनेपदी धातुओं से जोड़ा जाता है।

शतृ प्रत्यय का 'अत्' शेष रहता है। धातु से शतृ प्रत्यय करने पर धातु में सार्वधातुक लकारों (लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्) में होने वाले सभी विकार होते हैं। संक्षेप में ऐसा समझा जा सकता है कि परस्मैपदी धातु के लट् लकार में प्रथम पुरुष बहुवचन के रूप में से 'अन्ति' या 'अति' हटा कर 'अत्' जोड़ देने से शतृ प्रत्ययान्त रूप बन जाता है। यथा - भू - भवन्ति - भव् + भवत्। दा - ददति - दद् = ददत् आदि। शतृ प्रत्ययान्त शब्द के रूप पुल्लिंग में गच्छत् के सदृश, स्त्रीलिंग में 'नदी' के सदृश और नपुंसकलिंग में 'जगत्' के सदृश चलते हैं।

शानच् प्रत्यय का 'आन' शेष रहता है। धातु से शानच् प्रत्यय जोड़ने से पूर्व धातु में सार्वधातुक लकारों में होने वाले सभी विकार होते हैं। किन्तु जिन गणों की धातुओं में 'अ' विकरण जुड़ता है (भ्वादि, दिवादि, तुदादि, चुरादिगण), उनमें शानच् के 'आन' से पूर्व मुक् (म्) आगम हो जाता है (आने मुक् ७/२/८२)। अर्थात् शानच् के 'आन' के स्थान पर 'मान' हो जाता है। संक्षेपतः, आत्मनेपदी धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष, बहुवचन के रूप में से 'न्ते' या 'ते' हटा कर नियमानुसार 'मान' या 'आन' जोड़ देने से शानच् प्रत्ययान्त रूप बन जाता है। यथा -

सेव् - सेवन्ते - सेव - सेवमान। दा - ददते - दद - ददान आदि। शानच् प्रत्ययान्त शब्दों के रूप में 'राम' के सदृश, स्त्रीलिंग में 'रमा' के सदृश और नपुंसकलिंग में 'फल' के सदृश चलते हैं।

कुछ प्रमुख परस्मैपदी धातुओं के शतृ प्रत्ययान्त रूप इस प्रकार हैं :-

अद्	अदत्	दा	यच्छत्	वस्	वसत्
अर्	सत्	दृश्	पश्यत्	विद्	विन्दत्, विदत्
आप्	आप्नुवत्	ध्यै	ध्यायत्	शक्	शक्नुवत्
इष्	इच्छत्	नश्	नश्यत्	श्रु	शृण्वत्
गम्	गच्छत्	नृत्	नृत्यत्	स्था	तिष्ठत्
गै	गायत्	पठ्	पठत्	स्निह्	स्निह्यत्
घ्रा	जिघत्	प्रच्छ्	पृच्छत्	स्पृश्	स्पृशत्
जागृ	जाग्रत्	भू	भवत्	स्मृ	स्मरत्
जि	जयत्	मरज्	मज्जत्	हन्	घ्नत्
त्यज्	त्यजत्	वद्	वदत्	आ + ह्वे	आह्वयत्

कुछ प्रमुख आत्मनेपदी धातुओं के शानच् प्रत्ययान्त रूप इस प्रकार हैं :-

आस्	आसीन	भाष्	भाषमाण	वृत्	वर्तमान
अधि+इ	अधीयान	मन्	मन्यमान	वृध्	वर्धमान
ईक्ष्	ईक्षमाण	मुद्	मोदमान	शुभ्	शोभमान
कम्	कामयमान	मृ	म्रियमाण	शी	शयान
कम्प्	कम्पमान	यत्	यतमान	सह्	सहमान

गाह्	गाहमान	रुच्	रोचमाण	सेव	सेवमान
क्री	क्रीयमाण	लभ्	लभमान	स्मि	स्मयमान
स्वर्	स्वरमाण	वन्द्	वन्दमान		
दय्	दयमान	विद्	विदमान		

कुछ प्रमुख जगत्यादी धातुओं के शतृ एवं शानच् प्रत्ययान्त रूप इस प्रकार हैं :-

धातु	शतृ प्रत्ययान्त	शानच् प्रत्ययान्त	धातु	शतृ प्रत्ययान्त	शानच् प्रत्ययान्त
कथ्	कथयत्	कथयमाण	नुद्	नुदत्	नुदमान
कृ	कुर्वत्	कुर्वाण	पच्	पचत्	पचमान
क्रम्	क्रमत्	क्रममाण	बुध्	बोधत्	बोधमान
गण्	गणयत्	गणयमान	ब्रू	ब्रुवत्	ब्रुवाण
गुह्	गूहत्	गूहमान	भक्ष्	भक्षयत्	भक्षयमाण
ग्रह्	गृह्णत्	गृह्माण	भज्	भजत्	भजमान
चि	चिन्वत्	चिन्वान	भुज्	भुञ्जत्	भुञ्जान
चिन्त्	चिन्तयत्	चिन्तयमान	मृ	मियत्	मियाण
चुर्	चोरयत्	चोरयमाण	मिल्	मिलत्	मिलमान
छिद्	छिन्दत्	छिन्दान	मुच्	मुञ्चत्	मुञ्चमान
ज्ञा	जानत्	जानान	रच्	रचयत्	रचयमाण
तड्	ताडयत्	ताडयमान	लिप्	लिम्पत्	लिम्पान
दण्ड्	दण्डयत्	दण्डयमान	वह्	वहत्	वहमान
दा	ददत्	ददान	सिच्	सिञ्चत्	सिञ्चमाण
धा	दधत्	दधान	सूचय्	सूचयत्	सूचयमान
नी	नयत्	नयमान	ह	हरत्	हरमाण

पूर्वकालिक कृत् प्रत्यय

क्त्वा, ल्यप्

एक क्रिया के हो चुकने पर जब दूसरी क्रिया आरम्भ हो, तो पहले समाप्त क्रिया पूर्वकालिक क्रिया कहलाती है। ये दोनों क्रियाओं का कर्ता एक ही होना चाहिए, अलग-अलग नहीं। यथा रामः भुक्त्वा पाठशालां गच्छति। इसमें राम ने खाना और जाना-दोनों क्रियाओं का कर्ता राम ही है।

समानकर्तृकयोःपूर्वकाले 3/4/21 - खाकर, पीकर, सोकर आदि पूर्वकालिक क्रिया के अर्थ का बोध कराने के लिए धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय जोड़ा जाता है। क्त्वा प्रत्यय में केवल 'त्वा' शेष रहता है। क्त्वा प्रत्ययान्त शब्द अव्यय हो जाते हैं अर्थात् उसके रूप नहीं चलते।

क्त्वा प्रत्यय जुड़ते समय धातु में प्रायः वही विकार होता है, जो 'वेद' प्रत्यय जुड़ते समय हुआ करते हैं। जैसे

एकाक्षरान्त, एकाक्षरान्त धातुओं के न्, ग् का प्रायः लोप होता है। यथा

हन् - हत्वा ; गम् - गत्वा। किन्तु जन् - जनित्वा ; खन् - खनित्वा बनता है।

- धातु के प्रथम अक्षर य, व, र, ल को बहुधा सम्प्रसारण हो जाता है। यथा - यज् - इष्ट्वा ; प्रच्छ् - पृष्ट्वा ; वच् - उक्त्वा ; वप् - उप्त्वा आदि।

धातु एवं प्रत्यय के बीच 'इ' आने पर धातु के स्वर को गुण हो जाता है। यथा -

शी + क्त्वा = शे + इ + त्वा = श् ए + इ + त्वा = शयित्वा आदि.

जान्तनशां विभाषा 8/4/32 - जान्त धातुओं तथा नश् धातु के बाद क्त्वा आने पर विकल्प से णत्व (ण) होता है। यथा

रञ्ज् + क्त्वा = रक्त्वा, रङ्क्त्वा। भुंज + क्त्वा = भुक्त्वा, भुङ्क्त्वा।

नश् + क्त्वा = नष्ट्वा, नष्ट्वा, नशित्वा। ध्वंस + क्त्वा = ध्वस्त्वा, ध्वंसित्वा।

कुछ प्रमुख धातुओं के क्त्वा प्रत्ययान्त रूप इस प्रकार हैं -

अद्	जग्ध्वा	भू	भूत्वा	स्मि	स्मित्वा	इष्	इष्ट्वा, एषित्वा
अर्च्	अर्चित्वा	लभ्	लब्ध्वा	की	क्रीत्वा	राह्	रोढ्वा, रहित्वा
अस्	भूत्वा	शी	शयित्वा	छिद्	छित्वा	शास्	शिष्ट्वा, शासित्वा
आप्+इ	आपीत्वा	स्था	स्थित्वा	भिद्	भित्वा	पू	पूत्वा, पवित्वा
कृ	कृत्वा	स्तृ	स्तृत्वा	युध्	युद्ध्वा	ग्रन्थ्	ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा
गम्	गत्वा	हृ	हृत्वा	व्यध्	विद्ध्वा	क्रम्	क्रान्त्वा, क्रन्त्वा
त्यज्	त्यक्त्वा	ध्मै	ध्मात्वा	गह्	ऊढ्वा	गुह्	गूढ्वा, गुहित्वा
दृश्	दृष्ट्वा	वच्	उक्त्वा	दह्	दग्ध्वा	गुप्	गुप्त्वा, गुप्त्वा
प्रच्छ्	पृष्ट्वा	वद्	उदित्वा	स्वप्	सुप्त्वा		शेष हिन्दी अनुसार
भुज्	भुक्त्वा	वस्	उषित्वा	सिह्	सीढ्वा		

समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ७/१/३७ - यदि पूर्वकालिक क्रिया की धातु से पूर्व कोई उपसर्ग या उपसर्ग स्थानीय पद हो, तो 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' प्रत्यय जुड़ता है। ल्यप् प्रत्यय में केवल 'य' शेष रहता है। ल्यप् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय हो जाता है अर्थात् उसके रूप नहीं चलते। यथा -

गम् + क्त्वा = गत्वा। उप – गम् + ल्यप् = ल्यप् = उपगम्य। किन्तु यदि धातु से पूर्व नञ् जुड़ा हो तो 'क्त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' नहीं होता - यथा न कृत्वा इति अकृत्वा।

तुमुन् प्रत्यय

तुमुन्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ३/३/१० - क्रियार्थक क्रिया उपपद रहते भविष्यत् अर्थ में धातु से तुमुन् और ण्वुल् प्रत्यय होते हैं। *यथा - कृष्णं द्रष्टुं दर्शको वा याति।*

जिस होने वाली क्रिया के लिए कोई अन्य क्रिया होती है, उस भविष्यत् में होने वाली क्रिया की धातु में तुमुन् प्रत्यय जोड़ा जाता है। सामान्यतः तुमुन् प्रत्यय 'के लिए' अर्थ का बोध कराता है। उपर्युक्त उदाहरण में दो क्रियाएँ हैं - जाने की क्रिया देखने की क्रिया के लिए की जा रही है। जाने के भविष्य में होने का होगा। अतः दृश् धातु से तुमुन् प्रत्यय जोड़ा गया।

समानकर्तृकेषु तुमुन् ३/३/१५७ - वाक्य में प्रयुक्त हुए तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द तथा प्रधान क्रिया - दोनों का कर्ता एक ही होना चाहिए। दोनों के कर्ता भिन्न भिन्न होने पर तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द प्रयोग नहीं किया जा सकता। यथा - स गन्तुमिच्छति। इस वाक्य में 'गन्तुम्' तथा 'इच्छति' दोनों का कर्ता एक है। यदि दोनों के कर्ता भिन्न हों, तो तुमुन् प्रत्यय नहीं जुड़ सकता।

तुमुन् प्रत्यय का 'तुम्' शेष रहता है तथा तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द अव्यय हो जाता है (*मान्तत्वादव्ययत्वम्-सिद्धान्त कौमुदी*)। तुमुन् प्रत्यय से पूर्व धातु में वे सभी विकार होते हैं जो धातु में 'क्त्वा' प्रत्यय जोड़ने पर होते हैं।

कालसमयवेलासु तुमुन् ३/३/१६७ - काल, समय, वेला, अवसर आदि कालबोधी शब्दों के साथ समान कर्ता न होने पर भी तुमुन् प्रत्ययान्त शब्द का प्रयोग किया जाता है। *यथा - अनसरोऽयमालानं प्रकाशयितुम्। गन्तुं समयोऽस्ति।* आदि

शक्-धृष-ज्ञा-ग्लाघ-टक्-वन-क्रम-सहार्हार्त्यर्थेषु तुमुन् ३/४/६५ - शक् (सकना), धृष् (हिम्मत करना, धृष्ट होना), ज्ञा (जानना), ग्लै (थक जाना, मौन न होना), घट् (प्रयत्न करना), रभ् (प्रारम्भ करना), लभ् (पाना), क्रम् (आरम्भ करना), सह् (सहना), अर्ह् (योग्य), अस् (होना) तथा दास् धातु की समानार्थक धातुओं का प्रयोग होने पर तुमुन् प्रत्यय आता है। यथा - अयंधातु न शक्नोति। वक्तुं प्राकरत। भोक्तुम् अर्हति। आदि

पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु ३/४/६६ - पर्याप्त, समर्थ, योग्य आदि अर्थ रखने वाले शब्दों तथा (अलं अर्थ वाचक) योग्यता, शक्ति, नैपुण्य अथवा पार्याप्त्य अर्थ रखने वाले शब्दों के साथ भी तुमुन् का प्रयोग होता है। *यथा - लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः। अरिल में लिखित: सर्तं परिज्ञातुम्। आदि।*

तुमर्थाकर्मकरणेषु - इच्छा अर्थ का बोध कराने के लिए 'काम' और 'मनस्' शब्दों के साथ तुमुन् प्रत्यय प्रयुक्त होता है तथा तुमुन् में 'न्' का लोप होता है। *यथा - पुनरपि वक्तुकाम इमामों लक्षयते। दण्डिनाः जनपदे मेऽद्य रमयितुमनाः।*

कुछ प्रमुख धातुओं के तुमुन् प्रत्ययान्त रूप इस प्रकार हैं -

अद्	अत्तुम	त्यज्	त्यक्तुम्	वच्	वक्तुम्
अर्च्	अर्चितुम्	दृश्	द्रष्टुम्	वह्	वोढुम्
अस्	भवितुम्	नम्	नन्तुम्	शी	शयितुम्
अधि+इ	अध्येतुम्	नी	नेतुम्	श्रथ्	श्रथितुम्
ईक्ष्	ईक्षितुम्	मृत्	मर्तुम्	स्पृश्	स्प्रष्टुम्
कथ्	कथयितुम्	पच्	पक्तुम्	स्मृ	स्मर्तुम्
कृ	कर्तुम्	प्रच्छ्	प्रष्टुम्	सृज्	स्रष्टुम्
गम्	गन्तुम्	भुज्	भोक्तुम्	हा	हातुम्
गै	गातुम्	लभ्	लब्धुम्	हृ	हर्तुम्
चुर्	चोरयितुम्	लिह्	लेढुम्	छिद्	छेत्तुम्

एकक - 3(घ)

तद्धित प्रत्यय

मतुप्, इनि, ठक्, त्व, तल तु

जो प्रत्यय शब्द से जुड़ कर विभिन्न अर्थों में प्रयोग किए जा सकते हैं, वे तद्धित प्रत्यय कहलाते हैं - 'तेभ्यः प्रयोगेभ्यः हिताः इति तद्धिताः'

यह विशेष ध्यान देने योग्य है कि कृत् प्रत्यय धातु से जोड़े जाते हैं और तद्धित प्रत्यय प्रातिपदिक (संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण) से ही जोड़े जाते हैं। तद्धित प्रत्यय धातु से नहीं जोड़े जा सकते हैं। तद्धित प्रत्यय जोड़ कर बने हुए शब्द तद्धितान्त कहलाते हैं। यथा - विनतायाः अपत्यं पुमान् इति-विनता + ढक् – वैनतेयः।

आस्ति वेदेषु प्रामाण्यं यस्य सः आस्तिः + ठक् = आस्तिकः।

शुक्लस्य भावः-शुक्ल + इमनिच् = शुक्लिमन्। धनमस्ति अस्य इति = धन + इनि = धनिन्।

इन विभिन्न उदाहरणों में भिन्न-भिन्न उदाहरणों में भिन्न-भिन्न प्रत्यय भिन्न-भिन्न अर्थों में शब्द से जोड़े गए हैं। किन्तु एक ही प्रत्यय अलग अलग अर्थों में भी जोड़ा जा सकता है। यथा - शिवस्य अपत्यं पुमान् इति शिव + अण् = शैवः। कषायेण रक्तमिति-कषाय + अण् = काषायम्। गौरी घृणमस्यां अस्तीति - घृण + अण् = गौर्य. (गायः)। शुचेः भावः कर्म वा इति शुचि + अण् = शौचम् (स्वच्छता) आवश्यका समूहः इति - वनक + अण् – वणजम्। ग्रीष्मस्य इदम् - ग्रीष्म अण् – ग्रैष्मम्। श्रवणेन श्रूयते इति-श्रवण + अण् – श्रावणः। शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकमिति-शकुन्तला + अण् = शाकुन्तलम्। आदि।

तद्धित प्रत्यय जोड़ते समय कुछ सामान्य नियमों का ज्ञान होना आवश्यक है। इन नियमों के ज्ञान से शब्द या प्रत्यय में होने वाले विकार अवगत हो जाएँगे -

१. जिस तद्धित प्रत्यय में 'ञ्' अथवा 'ण्' लुप्त हुआ हो, ऐसा ञित् अथवा णित् प्रत्यय जुड़ते समय शब्द के आदि स्वर की वृद्धि हो जाती है।

तद्धितेष्वचामादेः ७/२/११७

२. ञित् (ञ् लुप्त हुए) प्रत्यय के परे रहते भी शब्द के आदि स्वर की वृद्धि हो जाती है।

किति च ७/२/११८

३. अंगस्य- ६/४/१४६ - स्वरादि (स्वर से प्रारम्भ होने वाले) तथा यकारादि ('य' से प्रारम्भ होने वाले) प्रत्यय जुड़ते समय शब्द का अन्तिम अ, आ, इ, ई लुप्त हो जाता है। और यदि अन्त में त, र, ह हो तो उसे गुण (ओ) हो जाता है। उदाहरणार्थ - मनोः अपत्यं पुमान् इति-मनु + अण् – (नियम १) - मन्नु – अ – (नियम ३) – मानो + अ = (अवादि सन्धि) = मनन् अ = मानवः।

यस्येति च ६/४/१४८

४. व्यंजनादि (व्यंजन से प्रारम्भ होने वाले) प्रत्यय परे रहते शब्द के अन्तिम 'न्' का प्रायः लोप हो जाता है। यथा राजन् + मतुप् (मत्) राजवत्। यदि प्रत्यय स्वरादि या यकारादि हो तो शब्द के अन्तिम 'न्' के साथ साथ पूर्ववर्ती स्वर का भी कभी कभी लोप हो जाता है। यथा - राजन् + वुण् (अक) = राज् । अक = राजकम्।

नस्तद्धिते ६/४/१४४

५. प्रत्यय में आए हुए 'यु' के स्थान पर 'अन' तथा 'वु' के स्थान पर 'अक' हो जाता है।

युवोरनाकौ

६. प्रत्यय में आए हुए फ्, ढ्, ख्, छ्, घ् को क्रमशः आयन्, एय्, ईन तथा इय् हो जाता है - फ् – आयन्। ढ् – एय्। ख् = ईन। छ् = ईय्। घ् = इय्।

आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ७/१/२

७. प्रत्यय में आए हुए ढ् के स्थान पर इक् हो जाता है।

एरेयकः ६/३/५०

पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि तद्धित प्रत्यय अनेक भिन्न-भिन्न अर्थों में शब्द से जोड़े जाते हैं। सभी विभक्ति के प्रत्ययों को प्रस्तुत करना उपयुक्त न होने के कारण प्रमुख प्रमुख अर्थों में जोड़े जाने वाले प्रमुख तद्धित प्रत्यय दिए जा रहे हैं -

मतुप्

किसी वस्तु के बाहुल्य, प्रशंसा, आधिक्य नित्ययोग अथवा सान्निध्य का बोध कराने के लिए प्रायः मतुबर्थीय प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं :-

भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्योगोऽतिशायने।
संसर्गोऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः।।

मतुप्

'तत् अस्य अस्ति', 'तद् अस्मिन् अस्ति वा' - वह इसका है, अथवा वह इसमें है - इन अर्थों को प्रकट करने के लिए शब्द से मतुप् प्रत्यय जोड़ा जाता है।

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् (५/२/९४)

मतुप् प्रत्यय में केवल मत् शेष रहता है, तथा शब्द में कोई विकार नहीं होता। यथा

गावः अस्य सन्ति इति गो + मतुप् = गोमत्।

पुल्लिंग रूप - गोमान् गोमन्तौ गोमन्तः।

स्त्रीलिंग रूप गोमती गोमत्यौ गोमत्यः।

रसादि गुणवाचक शब्दों के साथ मतुप् प्रत्यय जोड़ा जाता है।

रसादिभ्यश्च ५/२/९५

(रसादि शब्द - रस, रूप, वर्ण, गन्ध, स्पर्श, शब्द, स्नेह, भद्र आदि)

गुणादि शब्दों को छोड़कर निम्नलिखित प्रकार के शब्दों के बाद मतुप् प्रत्यय आने पर मतुप् के 'म' को 'व' हो जाता है। अर्थात् शब्द से मत् के स्थान पर वत् जुड़ता है -

मतुवसोरायश्च मोर्वोऽश्वादिभ्य ८/२/९, झयः ८/२/१०

(१) यदि शब्द मकारान्त हो, यथा - किम् + मतुप् = किम् + वत् = किंवान्।

(२) यदि शब्द अकारान्त या आकारान्त हो, यथा - रूप + मतुप् = रूप + वत् = रूपवान्। विद्या + मतुप् = विद्या + वत् = विद्यावान्। मेधावान्। सोमावान्। आदि।

(३) यदि शब्द झय् (पाँचों वर्गों के प्रथम चार वर्णों) प्रत्याहार में अन्त होता हो। यथा - विद्युत् + मतुप् = विद्युत्वान्। दृषद् + मतुप् = दृषद्वान्।

(४) यदि शब्द की उपधा में 'ण्' हो, यथा - लक्ष्मी + मतुप् = लक्ष्मीवान्।

(५) यदि शब्द की उपधा में 'अ' हो। यथा - यशस् + मतुप् = यशस्वान्।

कतिपय मतुप् प्रत्यान्त शब्द इस प्रकार हैं -

रूपवान्, वर्णवान्, गन्धवान्, स्नेहवान्, बुद्धिमान्, कीर्तिमान्, शक्तिमान् आदि।

इनि, ठन् प्रत्यय -

मतुप् प्रत्यय के अर्थ में अकारान्त शब्दों से इनि (इन्) तथा ठन् (ठ = इक) प्रत्यय भी जोड़े जाते हैं

अत इनिठनौ ५/२/११५

जैसा पामरित अरव इति-धन + इनि = धन् + इन् = धनिन् - (धनी, धनिना, धनिन-

धन + ठन् = धन + इक = धनिक् + इक = धनिकः। दण्डी-दण्डिकः। छत्री-छत्रिकः आदि।

व्रीहि आदि गण में पठित शब्दों से भी मतुवर्थ में इनि और ठन् प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

व्रीह्यादिभ्यश्च ५/२/११६

(व्रीहि आदि शब्द - व्रीहि, माया, शाला, शिक्षा, मेखला, पताका आदि।)

व्रीहि + इनि = व्रीहिन्। व्रीहि + ठन् = व्रीहिकः।

माया = मायी-मायिकः। शिक्षा = शिक्षी - शिक्षिकः। आदि।

त्व तथा तल् प्रत्यय -

भाव अर्थ को प्रगट करने के लिए शब्द से त्व तथा तल् (त = ता) प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

तस्य भावस्त्वतलौ ५/१/११९

त्व एवं तल् प्रत्ययों को जोड़ कर शब्द से भाववाचक संज्ञा बनाई जाती है। त्व प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिंग होते है तथा तल् (त) प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। यथा - ब्राह्मणस्य भावः-ब्राह्मण + त्व = ब्राह्मणत्वम्।

ब्राह्मण – तल् - ब्राह्मणता शिशोः भागः - शिशुत्वम्, शिशुता।

गुरु-गुरुत्वम्, गुरुता। लघु-लघुत्वम्, लघुता। महत्-महत्त्वम्, महत्ता। विद्वस्-विद्वत्त्वम्, विद्वत्ता। पटु-पटुत्वम्, पटुता। कुशल-कुशलत्वम्, कुशलता। दक्ष-दक्षत्वम्, दक्षता। मित्र-मैत्रत्वम् मित्रता।

ठक् प्रत्यय -

भाव और कर्म अर्थ में कपि और जाति शब्द से ठक् (एय) प्रत्यय जोड़ा जाता है। *जातिकालसुखादिभ्यो ठक् ५/१/१२७* तथा

कपेः भावः कर्म वा-कापि + ठक् = काप् एय = कापेयम्। ज्ञातेः = ज्ञातेयम्

ठक् = सम्बन्ध अर्थ बताने के लिए हल और सर्व शब्द से ठक् (इक) प्रत्यय जोड़ा जाता है (हलसर्वाट् ठक् - ४, , १२४) यथा हालिकम्, सर्विकम्।

(तल्) । गजसहायाभ्यांचेति वक्तव्यम् (वार्तिक) - समूह अर्थ का बोध कराने के लिए ग्राम, जन, बन्धु, गज तथा सहाय शब्दों से तल् (त ता) प्रत्यय जोड़ा जाता है। *ग्रामजनबन्धुसहायतल् ४/२/४३* यथा ग्रामाणां समूहः इति ग्रामता। जनानां समूहः-जनता। बन्धुता। गजता। सहायता।

एकक - ३(ङ)

णिजन्त रूप व सन्नन्त रूप

संस्कृत में धातु के साथ विशिष्ट प्रत्यय जोड़ कर धात्वर्थ के साथ एक अन्य अर्थ का भी बोध कराया जाता है। यथा 'कृ' धातु का सामान्य अर्थ है 'करना'; किन्तु 'कराना' अर्थ का बोध कराने के लिए कृ धातु से पहले तो णिच् प्रत्यय जोड़ा जाता है और तदुपरान्त उसके तिङन्त रूप चलाये जाते हैं। इस स्थिति में धातु णिजन्त कहलाती है। ऐसी प्रत्ययान्त धातुएं चार प्रकार की होती हैं -

१. णिजन्त - णिच् प्रत्यय जुड़ कर बनने वाली धातु।

२. सन्नन्त - सन् प्रत्यय जुड़ कर बनने वाली धातु।

३. यङन्त - यङ् प्रत्यय में अन्त होने वाली धातु (लङ्लुङन्त में)।

४. नामधातु - किसी संज्ञा आदि में विशिष्ट प्रत्यय जोड़ कर बनाई हुई धातु।

णिजन्त धातु

जब किसी धातु के अर्थ में प्रेरणा अर्थ भी जोड़ना हो तो धातु से णिच् प्रत्यय जोड़ा जाता है। यथा जाना से भेजना, बनना से बनवाना, सुनना से सुनवाना आदि। सामान्यतः किसी धातु का जो कर्ता होता है, प्रेरणार्थक धातु बन जाने पर वह मूल कर्ता स्वयं काम न करके किसी दूसरे से काम करवाता है। यथा - रामः पाठं पठति-रामः अनुजेन पाठं पाठयति। किया यदि प्रेरणार्थक धातु में भी कर्ता वही रहता है तो प्रेरणा देने वाला एक अन्य कर्ता हो जाता है यथा - भृत्यः कटं करोति राम. भृत्येन कटं कारयति। णिच् प्रत्यय लगने पर कभी कभी धातु का अर्थ परिवर्तित हो जाता है। णिच् प्रत्यय जुड़ने से धातु कदाचित अकर्मक से सकर्मक भी हो जाती है। णिजन्त धातु के रूप चुरादिगणी धातुओं के समान चलते हैं। धातु और तिङ् प्रत्यय के बीच जुड़ने वाले णिच् प्रत्यय का केवल 'इ' शेष रहता है और उसे भी पुनः 'अय्' हो जाता है। णिजन्त धातुएं प्रायः उभयपदी होती हैं। चुरादिगणी धातुओं के रूप णिजन्त में भी साधारण रूपों के सदृश चलते हैं।

कुछ प्रमुख धातुओं के णिजन्त रूप इस प्रकार हैं:-

धातु	मूलरूप	णिजन्त प्रयोग
भू	भवति	भावयति, भाव्यते
गम्	गच्छति	गमयति, गम्यते
दृ	दरति	दारयति, दार्यते
दृश	पश्यति	दर्शयति, दर्श्यते
ध्यै	ध्यायति	ध्यापयति, ध्याप्यते
नी	नयति	नाययति, नाय्यते
श्रु	शृणोति	श्रावयति, श्राव्यते
आद्	अत्ति	आदयति, आद्यते
अस्	अस्ति	भावयति, भाव्यते
इ	एति	गमयति, गम्यते
अधि इ	अधीते	अध्यापयति, अध्याप्यते
ब्रू	ब्रवीति	वाचयति, वाच्यते
शी	शेते	शाययति, शाय्यते

हन्	हन्ति	घातयति, घात्यते
हु	जुहोति	हावयति, हाव्यते
भी	बिभेति	भाययति, भाय्यते
ह्री	जिह्रेति	ह्रापयति, ह्रापयते
ली	लीयते	लाययति, लाय्यते
वि	विनोति	वाययति-वापयति, वाय्यते-वाप्यते
शक्	शक्नोति	शाकयति, शाक्यते
इष्	इच्छति	एषयति, एष्यते
स्पृश्	स्पृशति	स्पर्शयति, स्पर्श्यते
छिद्	छिनत्ति	छेदयति, छेद्यते
युज्	युनक्ति	योजयति, योज्यते
हिंस	हिंसति	हिंसयति, हिंस्यते
कृ	करोति	कारयति, कार्यते
गृह	गृह्णाति	ग्राहयति, ग्राह्यते
प्री	प्रीणाति	प्रीणयति, प्रीण्यते
पठ	पठति	पाठयति, पाठ्यते
पा. (पिब)	पिबति	पाययति, पाय्यते
लिख	लिखति	लेखयति, लेख्यते
मृ	म्रियते	मारयति, मार्यते

सन्नन्त धातुएँ

धात्तेः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा ३/१/७ - किसी कार्य के 'करने की इच्छा' अर्थ को सूचित करने के लिए उस कार्य के अर्थ वाली धातु से 'सन्' प्रत्यय जोड़ा जाता है। अतः धात्वर्थ के साथ-साथ इच्छा अर्थ को प्रकट करने के लिए सन्नन्त धातु का प्रयोग किया जाता हैं। सन् प्रत्यय जुड़ी हुई धातु तथा मूल धातु दोनों क्रियाओं का कर्ता एक ही होना चाहिए, भिन्न-भिन्न नहीं। यथा -

राम बोलता है - रामः ब्रवीति।

राम बोलने की इच्छा करता है - रामः विवक्षति।

धातु और तिङ् प्रत्यय के बीच में जुड़ने वाले सन् प्रत्यय का केवल 'स्' शेष रहता हैं, जिसे कभी-कभी सन्धि के कारण 'ष्' हो जाता है।

सन् प्रत्यय जुड़ने पर धातु को द्वित्व हो जाता है। द्वित्व किए गए पूर्व भाग को अभ्यास कहते हैं यथा पठ्+सन् → पपठ् सन् ; इसमें प्रथम 'प' अभ्यास है।

अभ्यास अंग में अनेक विकार होते हैं -

(१) अभ्यास के अकार को इकार हो जाता है - पठ् सन् = पपठ् स् = पिपठ् स्

(२) रोट् धातु में स् से पूर्व प्रायः 'इ' जुड़ता है - पिपठ् इ स् + पिपठिस्+ति = पिपठिषति (कहीं कहीं सेट् धातु में 'इ' नहीं भी लगता यथा भू धातु)।

(3) यदि धातु संयुक्ताक्षर से प्रारम्भ होती हो, तो अभ्यास में प्रथम व्यंजन के साथ स्वर जुड़ जाता है। जैसे स्पर्ध् + सन् = पस्पर्ध् स्।

(4) किन्तु यदि संयुक्ताक्षर क्ष्म् वर्ण (श, ष, स) से प्रारम्भ होता है तो धातु का द्वितीय व्यंजन स्वर सहित अभ्यास में जाता है। स्पर्ध + सन् = पस्पर्ध् स्।

(5) अभ्यास में आए हुए महाप्राण वर्ण (वर्गों के द्वितीय अथवा चतुर्थ वर्ण) को अल्पप्राण (क्रमशः प्रथम अथवा तृतीय वर्ण) हो जाता है। छेद् सन् – चिचिछेद् स्, भेद् सन् = बिभेद् स्।

(6) ककार से प्रारम्भ होने वाली धातु को अभ्यास में चकार हो जाता है। कम् सन् = कक्मन् स् = चकम् स। चक् सन् –कक्षन् स् – चक्षन् स्।

(7) ह से प्रारम्भ धातु के ह को अभ्यास में ज हो जाता है। हु सन् = जुहु स्। आदि।

सन्नन्त धातु के रूप प्रायः उसी परस्मैपद या आत्मनेपद में चलते हैं जिस पद में मूल धातु होते हैं। किन्तु आ, इ, ई, दृश् आदि कुछ धातुएँ सन्नन्त होकर आत्मनेपद बन जाती हैं यथा जानाति - जिज्ञासते; शृणोति - शुश्रूषते; स्मरति - सुस्मूर्षते पश्यति - दिदृक्षते - आदि

सन्नन्त धातु के आगे 'आ' लगा देने से उस अर्थ की भाववाचक संज्ञा बन जाती है - पा सन् - पिपासा।

सन्नन्त धातु के आगे 'उ' लगा देने से विशेषण बन जाता है - पा सन् – पिपास् उ – पिपासु।

कुछ प्रमुख धातुओं के सन्नन्त रूप इस प्रकार हैं-

धातु	सन्नन्त रूप	भाववाचक संज्ञा	विशेषण
गम्	जिगमिषति	जिगमिषा	जिगमिषु
ज्ञा (जानना)	जिज्ञासते	जिज्ञासा	जिज्ञासु
पठ्	पिपठिषति	पिपठिषा	पिपठिषु
हन्	जिहंसिषति	जिहंसिषा	जिहंसिषु
वद्	विवदिषति	विवदिषा	विवदिषु
लिख्	लिलेखिषति-ते	लिलेखिषा	लिलेखिषु
रुध्	रुरुधिषति	रुरुधिषा	रुरुधिषु
सेव्	सिसेविषते	सिसेविषा	सिसेविषु
प्रच्छ्	पिपृच्छिषति	पिपृच्छिषा	पिपृच्छिषु
शी	शिश्रयिषते	शिश्रयिषा	शिश्रयिषु
कृ	चिकीर्षति	चिकीर्षा	चिकीर्षु
हृ	जिहीर्षति	जिहीर्षा	जिहीर्षु
मृ	मुमूर्षति	मुमूर्षा	मुमूर्षु
कथ्	चिकथयिषति	चिकथयिषा	चिकथयिषु
वह्	विवक्षति	विवक्षा	विवक्षु
वच्, ब्रू	विवक्षति	विवक्षा	विवक्षु
रम्	रिरंसते	रिरंसा	रिरंसु
पा	पिपासति	पिपासा	पिपासु
स्वप्	सुषुप्सति	सुषुप्सा	सुषुप्सु
स्था	तिष्ठासति	तिष्ठासा	तिष्ठासु
दा	दित्सति	दित्सा	दित्सु
हा	जिहासति	जिहासा	जिहासु
ज्ञा	जिज्ञासते	जिज्ञासा	जिज्ञासु

जि	जिगीषति	जिगीषा	जिगीषुः
भी	बिभीषति	बिभीषा	बिभीषुः
श्रु	सुश्रूषते	सुश्रूषा	शुश्रूषुः
युध्	युयुत्सते	युयुत्सा	युयुत्सुः
भू	बुभूषति	बुभूषा	बुभूर्षु
हन्	जिघांसति	जिघांसा	जिघांषु
दा	दित्सति, दित्सते	दित्सा	दित्सुः

एकक - ४

लघुसिद्धान्त कौमुदी

संज्ञा प्रकरणम्

(मङ्गलाचरणम्)

नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां वरोभ्यहम्।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम्॥

भारतीय परम्परा का अनुसरण करते हुए वरदाचार्य प्रस्तुत श्लोक (नत्वेति) के द्वारा ग्रन्थ की निर्विघ्न परिसमाप्ति की इच्छा से देवी सरस्वती की वन्दना करते हैं तथा ग्रन्थरचना का उद्देश्य (पाणिनि के व्याकरण में प्रवेश करने हेतु) उल्लेखित करते हैं :-

मैं (ग्रन्थकर्ता वरदाचार्य) शुद्ध स्वरूप वाली (अर्थात् दोष रहित), प्रशस्त गुणों वाली वाग्देवी सरस्वती की वन्दना करके पाणिनीय (पाणिनि विरचित) व्याकरण में प्रवेश करने के लिए लघु सिद्धान्त कौमुदी नामक (इस) ग्रन्थ की रचना करता हूँ।

अ इ उ ण् ।१।
ऋ ऌ क् ।२।
ए ओ ङ् ।३।
ऐ औ च् ।४।
ह य व र ट् ।५।
ल ण् ।६।
ञ म ङ ण न म् ।७।
झ भ ञ् ।८।
घ ढ ध ष् ।९।
ज ब ग ड द श् ।१०।
ख फ छ ठ थ च ट त व् ।११।
क प य् ।१२।
श ष स र् ।१३।
ह ल् ।१४

अ इ उ णिति - 'अ, इ, उ ण्' - इन चौदह सूत्रों को 'माहेश्वर सूत्र' कहा जाता है। इन्हें ही 'अक्षर समाम्नाय' कहा जाता है। वस्तुतः ये पाणिनीय व्याकरण की आधारशिला हैं। भारतीय मान्यता के अनुसार ये १४ सूत्र पाणिनि को अपनी तपस्या के फलस्वरूप भगवान् शंकर से प्राप्त हुए थे। वस्तुतः इन सूत्रों द्वारा अक्षर समाम्नाय का क्रम दिखलाया गया है।

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि। एषां अन्त्या इतः। हलादिष्वकार उच्चारणार्थः। लण्मध्ये तु इत्संज्ञकः।

इतिति - ये माहेश्वर सूत्र 'अण्' आदि संज्ञाओं (प्रत्याहारों) के लिए हैं अर्थात् इनकी सहायता से अण् आदि प्रत्याहार सूत्रों की सिद्धि होती है। प्रत्याहार सूत्रों की विधि का निर्देश आगे सू० ४ पर किया गया है।

एषामिति - इन चौदह सूत्रों के अन्तिम वर्ण (यथा - ण्, क्, ङ्, च्, ट्, त्, म्, ञ्, न्, झ्, भ्, ञ्, घ्, ढ्, ध्, ष्, ज्, ब्, ग्, ड्, द्, श्, ख्, फ्, छ्, ठ्, थ्, च्, ट्, त्, व्, क्, प्, य्, श्, ष्, स्, र्, ह्, ल्) इत् कहलाते हैं। इन्हें अनुबन्ध भी कहते हैं। व्याकरण शास्त्र में प्रयोजनविशेष के लिए अनुबन्ध योजना की गई है जिसका फल उपयोग पर दिखाया जाता रहा है।

शास्त्र में लाघव हेतु प्रत्याहारों की आवश्यकता होती है तथा प्रत्याहार के लिए पाणिनि ने दो कार्य किए - अनुबन्ध की योजना तथा अ इ उ ण् आदि सूत्रों का पाठ। लौकिक वर्णमाला के रहते हुए भी सूत्रोक्त वर्ण समाम्नाय का उपदेश किया गया है। कारण कि प्रत्याहारों की सिद्धि के लिए वर्णों के प्रचलित क्रम में परिवर्तन करना आवश्यक था।

हकारेति - हकार आदि वर्णों में अकार उच्चारणार्थ है। पूर्वोक्त ५४ सूत्रों में पठित सभी व्यंजन वर्णों में (ण् इत्यादि अनुबन्धों को छोड़कर) अकार भी जुड़ा हुआ है। उक्त अकार का मात्र इतना प्रयोजन है कि इन व्यंजनों का उच्चारण सुविधापूर्वक हो सके। क्योंकि व्यंजन स्वरों की सहायता से ही उच्चरित होते हैं। सभी इत् संज्ञक वर्णों का लोप हो जाता है (द्र० सूत्र ३) परन्तु माहेश्वर सूत्रों में पठित व्यंजनों में जो उच्चारणार्थ अकार है उसकी निवृत्ति इत् संज्ञा के बिना ही हो जाती है अर्थात् उसे इत् करना नहीं पड़ता। सार यह है कि उच्चारण के लिए प्रयुक्त अनुबन्ध (या वर्ण) की इत्संज्ञा करना अनिवार्य नहीं है। (द्र० सूत्र-दिव औत्)

लणिति - परन्तु 'लण्' सूत्र में लकारोत्तरवर्ती अकार इत्संज्ञक है (उच्चारण के लिए नहीं) इस प्रकार लकार में स्थित अकार के दो प्रयोजन हैं - उच्चारण के लिए सहायता तथा इत्संज्ञक होना। इत्संज्ञक होने का फल प्रत्याहार सूत्र होता है। वस्तुतः इस अकार को इत्संज्ञक करने का उद्देश्य है - ४ प्रत्याहार का निर्माण जिसकी चर्चा आगे (सू० २६) की गई है।

प्रत्याहार विवरण

१. अण् = अ, इ उ।
२. अक् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ।
३. अच् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।
४. अट् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र।
५. अण् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल।
६. अम् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न।
७. अश् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, ग, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
८. अल् = अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, ञ, ग, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
९. इक् = इ, उ, ऋ, ऌ।
१०. इच् = इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ।
११. इण् = इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल।
१२. उक् = उ, ऋ, ऌ।
१३. एङ् = ए, ओ।
१४. एच् = ए, ओ, ऐ, औ।
१५. ऐच् = ऐ, औ।
१६. हश् = ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
१७. हल् = ह, य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
१८. यण् = य, व, र, ल।
१९. यम् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न।
२०. यञ् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ।
२१. यय् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।
२२. यर् = य, व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।
२३. वश् = व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, ध, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।
२४. वल् = व, र, ल, ञ, म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, व, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, स, ह।
२५. रल् = र, ल, ञ, म, ङ, ण, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।
२६. मय् = म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, क, प।
२७. ङम् = ङ, ण, न।
२८. झष् = झ, भ, थ, ढ, ध।
२९. झश् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द।

३०. झय् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

३१. झर् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

३२. झल् = झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ड, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स, ह।

३३. भष् = भ, घ, ढ, ध।

३४. जश् = ज, ब, ग, ड, द।

३५. बश् = ब, ग, ड, द

३६. खय् = ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प।

३७. खर् = ख, फ, छ, ट, थ, च, ट, त, क, प, श, ष, स।

३८. छव् = छ, ठ, थ, च, ट, त।

३९. चय् = च, ट, त, क, प।

४०. चर् = च, ट, त, क, प, श, ष, स।

४१. शर् = श, ष, स।

४२. शल् = श, ष, स, ह।

१. 'हलन्त्यम्' (१/३/३)

उपदेशेऽन्त्यं हलित्स्याट्। आदेश आद्योच्चारणम्। सूत्रेष्वदृष्टं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र।

हलिति - उपदेश अवस्था में अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है अर्थात् उपदेश अवस्था में जो हल् (वर्ण) अन्त में स्थित होगा उसकी इत् संज्ञा होगी।

'हल्' एक प्रत्याहार है (जिसका ज्ञान आगे सू२० ४ पर कराया जायेगा) जिसके अन्तर्गत सभी व्यंजन आ जाते हैं। अतः प्रस्तुत सूत्र का भावार्थ होगा कि उपदेश अवस्था में अन्त्य (अन्त में स्थित) व्यंजन की इत् संज्ञा होगी।

उपदेश इति - अन्त्य उच्चारण को उपदेश कहते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि के द्वारा किया गया अन्त्य उच्चारण ही आद्योच्चारण कहलाता है। इस प्रकार माहेश्वर सूत्र, धातुपाठ, गणपाठ, उणादिपाठ, लिङानुशासन, वर्णोपदेश, गणपाठ, आगम, प्रत्यय तथा आदेश को उपदेश कहा गया है।

सूत्रेष्वदृष्टं - सूत्र में जो पद दिखाई न दे उसे दूसरे सूत्रों से सर्वत्र लाना (अध्याहार) चाहिए।

चूंकि अष्टाध्यायी की रचना सूत्र शैली में हुई है तथा सूत्र शैली में संक्षेप को महत्व दिया जाता है। प्रत्येक सूत्र में एक ही शब्द का बार-बार आना सूत्र शैली के प्रयोजन को व्यर्थ कर देता है तथा अनावश्यक गौरव प्रतीत होता है। अतः इस प्रकार के शब्दों (जो सूत्र में दृष्टिगोचर न हों तथा जिनके बिना सूत्रार्थ अपूर्ण प्रतीत होता हो) का अध्याहार अगले सूत्रों से लेना चाहिए। इसे ही अनुवृत्ति कहा जाता है। पूर्व शास्त्र (पढ़ा गया पर शास्त्र से भी) से शब्दों का अनुवर्त्तन अगले सूत्रार्थ को पूर्ण किया जाता है। 'हलन्त्यम' सूत्र का अर्थ व उसमें अनुवृत्ति के ज्ञान के लिए निम्नलिखित सूत्रक्रम पर दृष्टि डालिए -

भूवादयो धातवः। १।३।१।

उपदेशेऽजनुनासिक इत्। १। ३। २।

हलन्त्यम्। १। ३। ३।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्ववर्ती सूत्र (१।३।२) के 'उपदेशे' तथा 'इत्' इन दो पदों का अनुवर्त्तन कर लेने पर सूत्रार्थ पूर्ण हो जायेगा:

'उपदेशे हल् अन्त्यम् इत् (स्यात्)' अर्थात् उपदेश में अन्त्य हल् की संज्ञा होती है।

२. अदर्शनं लोपः (१।१।६०)

प्रसक्तस्याऽदर्शनं लोपसंज्ञं स्यात्।

अदर्शनमिति - प्रसक्त का दिखाई न पड़ना लोप कहलाता है।

प्रसक्त का अर्थ है प्राप्त या विद्यमान। इस प्रकार सूत्र का अर्थ होगा कि जो प्राप्त है उसका न सुना जाना या न दिखाई पड़ना लोप कहलाता है।

३. तस्य लोपः (१। ३। ९)

तस्येतो लोपः स्यात्। यदियोऽप्राप्तार्थाः।

तस्येति - उस इत् संज्ञक का लोप हो। इस प्रकार इत्संज्ञा का प्रयोजन लोप है।

णेति - माहेश्वर सूत्रों में सूत्र के अन्त में पठित 'ण्' इत्यादि इत्संज्ञक वर्ण प्रत्याहार सूत्रों (अण्, अच् इत्यादि) की सिद्धि के लिए हैं। चूंकि इत् संज्ञक वर्ण का लोप होता है परन्तु इन 'ण्' आदि वर्णों के लोप से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है। अतः इन्हे 'इत्' करने का प्रयोजन 'अच्' इत्यादि प्रत्याहारों का निर्माण करना है। यदि इन्हें इत् संज्ञक नहीं कहेंगे तो 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र के द्वारा प्रत्याहार न बना सकेंगे। यदि इन्हें 'इत्' कर देंगे तथा साथ में लोप भी कर देंगे तो इत्संज्ञा निरर्थक है। अतः इनकी इत्संज्ञा किये जाने का फल लोप नहीं है अपितु 'अण्' इत्यादि प्रत्याहार निर्माण है।

४. आदिरन्त्येन सहेता (१। १। ७१)

अन्त्येन इता सहेत आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात्। यथा 'अण्' इति अ इ उ वर्णानां संज्ञा। एवमक् अच् हल् अल्ित्यादयः।

आदिरिति - अन्त्य इत्संज्ञक वर्ण से सहित आदि वर्ण अपनी तथा बीच के वर्णों की संज्ञा (बोधक) होता है।

इस सूत्र के द्वारा प्रत्याहारों की सिद्धि होती है। सूत्र का भावार्थ है कि अन्त्य इत् के साथ उच्चार्यमाण आदि वर्ण अपना तथा मध्यवर्ती वर्णों का बोधक होता है अर्थात् अन्तिम इत्संज्ञक वर्ण के साथ आने वाला आदि वर्ण अपना तथा बीच में आने वाले अन्य सभी वर्णों का बोध करायेगा। यथा - 'अण्' प्रत्याहार का आदि वर्ण अ है जो 'अ इ उ ण्' माहेश्वर सूत्र का प्रथम वर्ण है तथा 'अण्' का अन्तिम अक्षर 'ण्' है जो इत्संज्ञक भी है। अतः इस इत्संज्ञक णकार से युक्त आदि वर्ण अकार हुआ जिससे 'अण्' इस प्रकार प्रत्याहार बना। इन दोनों वर्णों के मध्य में इ, उ (अर्थात् अ इ उ ण्) वर्ण भी हैं। तब यह 'अण्' प्रत्याहार अपना (अर्थात् अकार का) तथा मध्यवर्ती (इकार, उकार) का भी बोध कराता है। भावार्थ यह हुआ कि शास्त्र में जहाँ जहाँ 'अण्' ऐसे शब्द स्वरूप का व्यवहार होगा वहाँ वहाँ अ, इ, उ, ये तीन वर्ण स्वतः उपस्थित हो जायेंगे।

एकमिति - इस प्रकार 'अ इ उ ण्। ऋ ऌ क्।।' के आदि अ और अन्त्य इत्संज्ञक क् को लेकर अक् प्रत्याहार बना लेंगे जो पाँच वर्णों (अ, इ, उ, ऋ, ऌ) का बोध कराता है। ध्यान रहे कि यहाँ मध्यवर्ती णकार 'तस्य लोपः' से लोप हो जाता है। इसी प्रकार अच्, हल् तथा अल् आदि प्रत्याहारों का निर्माण कर लेंगे। पुस्तक में आने वाले सभी प्रत्याहार ५० ९ पर दिखाए गए हैं।

५. ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः (१/२/२७)

उच् उच् उदुच् वः। वां कालः इव कालो यस्य सोऽच् ऊकालादि ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादि भेदेन त्रिधा।

ऊकालेति - ऊकाल वाला 'अच्' ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होता है। 'अच्' एक प्रत्याहार सूत्र है जिसमें सभी स्वर आ जाते हैं 'ऊकाल' का अर्थ है उ, ऊ तथा ३ काल वाले। तात्पर्य यह है कि ऊकाल (अर्थात् एक मात्रा काल वाला) वाले स्वर को ह्रस्व, ऊकाल (अर्थात् दो मात्रा काल वाला) वाले स्वर को दीर्घ तथा उ ३ काल (अर्थात् तीन मात्रा काल वाला)।

चूंकि ऋ की ध्वनि में 'रु, रू, रू ३' ऐसा एकमात्रिक, द्विमात्रिक व त्रिमात्रिक आरोह स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अतः ऋवर्ण को पाणिनि ने दृष्टान्त रूप में ग्रहण किया है, अकार आदि अन्य स्वर को नहीं।

शेषे - काले स्वर को प्लुत कहेंगे। वह अर्थात् अच् (स्वर) उदात्त आदि भेद से तीन प्रकार का होता है। इस प्रकार प्रत्येक स्वर नौ प्रकार का सिद्ध हुआ है। यथा -

ह्रस्व	उदात्त	अकार	अ
ह्रस्व	अनुदात्त	अकार	अ
ह्रस्व	स्वरित	अकार	अ
दीर्घ	उदात्त	अकार	आ
दीर्घ	अनुदात्त	अकार	आ
दीर्घ	स्वरित	अकार	आ
प्लुत	उदात्त	अकार	अ ३

प्लुत	अनुदात्त	अकार	अ ३
प्लुत	स्वरित	आकार	आ ३

इसी प्रकार इकार, ईकार, उकार व ऊकार के विषय में समझें।

६. उच्चैरुदात्तः (१/२/२९)

(तालवादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात्।)

उच्चैरिति - कण्ठ, तालु आदि सवर्ण स्थानों के ऊपर वाले भाग में उच्चार्यमाण स्वर उदात्त संज्ञक होता है।

७. नीचैरनुदात्तः (१/२/३०)

(तालवादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात्।)

नीचैरिति - कण्ठ, तालु इत्यादि स्थानों के नीचे वाले भाग में उच्चार्यमाण स्वर अनुदात्त संज्ञक होता है।

८. समाहारः स्वरितः (१/२/३१)

(उदात्तानुदात्तधर्मौ समाहियेते यस्मिन् सोऽयं स्वरितसंज्ञः स्यात्।) स च द्वयोरपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाच्च द्विधा

समाहार इति - उदात्त और अनुदात्त के एकीकरण वाला स्वर स्वरित संज्ञक होता है अर्थात् उदात्तत्व तथा अनुदात्तत्व दोनों धर्मों का मेल जिस वर्ण में हो उसकी स्वरित संज्ञा होती है।

मुख के भीतर कण्ठ, तालु आदि स्थान होते हैं। वर्णों के उच्चारण से प्रेरित वायु इन मुखस्थ स्थानों पर आघात करती है तब स्थानानुरूप वर्णों की उत्पत्ति होती है। मुख में स्थित सभी स्थान दो-दो विभक्त होते हैं। यथा - ऊपर का भाग व नीचे का भाग। जब कोई स्वर उच्चारण स्थान के ऊपरी भाग से उच्चरित होता है तो वह उदात्त संज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार जो स्वर उच्चारण स्थान के निचले भाग से उच्चरित होता है उसे अनुदात्तसंज्ञक कहते हैं। जो स्वर दोनों (उदात्त, अनुदात्त) धर्मों से युक्त होता है वह स्वरित कहलाता है। उदात्तत्व आदि धर्मों को वर्णयोगिता वेद में दृष्टिगोचर होती है।

शेषे - यह जो प्रकार का प्रलोक अच् (स्वर) अनुनासिक व अनुनासिक व अननुनासिक भेद से दो प्रकार का होता है।

१०. मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः (१/१/८)

मुखसहितेनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसंज्ञः स्यात्। तदिदमथ अ इ उ ऋ ऌ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादशभेदाः। लृवर्णस्य द्वादशस्तस्य दीर्घाभावात्। एषामपि द्वादश तेषां ह्रस्वाभावात्।

मुखेति - मुख व नासिका में उच्चार्यमाण वर्ण अनुनासिक संज्ञक हो।

ञ्, म्, ङ्, ण्, न् तथा म् इन पाँच वर्णों का उच्चारण मुख व नासिका दोनों से होता है। अतः ये अनुनासिक संज्ञक हैं।

नादेशे - इस प्रकार अ, इ, उ, ऋ वर्णों के प्रत्येक के अठारह भेद होते हैं। 'ऌ' वर्ण का दीर्घरूप प्राप्त नहीं होता अतः इसके केवल बारह भेद होते हैं। एच् वर्णों (ए, ओ, ऐ, औ) का ह्रस्व रूप नहीं होता अतः इनके भी बारह भेद ही होते हैं।

प्रथम स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत ये तीन-तीन भेद कहे गये हैं। इनके उदात्त, अनुदात्त, स्वरित के आधार पर तीन के तीन-तीन भेद कहे हैं। इस प्रकार ३ × ३ = ९ नौ नौ भेद सिद्ध होते हैं। आकार के नौ भेद पृ० ५ पर दर्शाए जा चुके हैं। पुनः ये नवविध आकार अनुनासिक व निरनुनासिक भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार आकार अठारह प्रकार का होता है।

आकार की तरह ही इकार, ईकार व ऋकार भी अठारह-अठारह प्रकार के होते हैं। चूंकि ऌ के ह्रस्व व प्लुत दो भेद होते हैं। अतः उदात्तादि के आधार पर छह भेद हुए। पुनः अनुनासिकता के आधार पर दो दो भेद होते हैं। इस प्रकार ऌ के बारह प्रकार का होता है।

चूंकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) वर्णों का दीर्घ व प्लुत ही होता है। अतः प्रत्येक एच् वर्ण भी बारह बारह प्रकार का होता है।

११. तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१/१/९)

तालवादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चत्यर्थतद्द्वयं यस्य येन तुल्यं सहभावेन सवर्ण संज्ञं स्यात्।

(ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्)। अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः। इचुयशानां तालु। ऋटुरषाणां मूर्धा। लृतुलसानां दन्ताः। उपूपध्मानीयानामोष्ठौ। ञमङणनानां नासिका च। एदैतोः कण्ठतालु। ओदौतोः कण्ठोष्ठम्। वकारस्य दन्तोष्ठम्। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्। नासिकाऽनुस्वारस्य। स्पर्शो द्विधा - आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा स्पृष्टईषत्स्पृष्टईषद्विवृतः विवृतः संवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं स्पर्शानां ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य

प्रयोग सदृशम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव। बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा विवारः संवारः श्वास नादोऽघोषो घोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवार श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पंचम वर्णाश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तस्थाः। शल ऊष्माणः। अच् स्वराः अं, कः अः इति कखाभ्यां प्राक्पौर्विसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। अं पः, अं फः इति पफाभ्यां प्राक्पौर्विसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं, अः इत्यच्चः परसवर्णविसर्गौ।

तुल्यास्येति - जिन जिन वर्णों के कण्ठ आदि उच्चारण स्थान और आभ्यन्तर प्रयत्न दोनों ही समान होते हैं, वे परस्पर सवर्ण संज्ञक होते हैं।

उदाहरण के लिए लकार व सकार दोनों का उच्चारण स्थान 'दन्त' है तथा दोनों के आभ्यन्तर प्रयत्न 'स्पृष्ट' है। अतः ये व्याकरण की दृष्टि से परस्पर सवर्ण संज्ञा वाले हैं।

इ तथा ए की सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। कारण कि माहेश्वर सूत्रों में इनका पृथक् पृथक् पाठ है। दूसरे इ तथा ए का उच्चारण स्थान भिन्न-भिन्न है।

ऋ ऌ इति - ऋ और ऌ वर्ण की परस्पर सवर्ण संज्ञा करनी चाहिए।

ऋ तथा ऌ इन दोनों वर्णों का उच्चारण स्थान भिन्न-भिन्न है अतः प्रस्तुत सूत्र के द्वारा इनकी सवर्ण संज्ञा नहीं सिद्ध होती है। फलतः पाणिनि के द्वारा दोनों वर्णों की सवर्ण संज्ञा की गई है।

वर्णों का उच्चारण करते समय वायु मुख के जिस भाग से टकराती है अथवा जिह्वा मुख के जिस भाग को स्पर्श करती है, वह स्थान उस वर्ण का उच्चारण स्थान कहलाता है। वर्णों के उच्चारण स्थान इस प्रकार हैं :-

अकुहेति - अ, कवर्ग (क, ख, ग, घ, ङ), हकार तथा विसर्ग का उच्चारण स्थान कण्ठ है। इ, चवर्ग (च, छ, ज, झ ञ), य तथा शकार का स्थान तालु है। ऋ, टवर्ग (ट, ठ, ड, ढ, ण), र तथा षकार का स्थान मूर्धा है। ऌ, तवर्ग (त, थ, द, ध, न), ल तथा सकार का स्थान दन्त है। उ, पवर्ग (प, फ, ब, भ, म) तथा उपध्मानीय का स्थान ओष्ठ है। ञ, म, ङ, ण तथा न का स्थान नासिका भी है। ए तथा ऐ का स्थान कण्ठतालु है। ओ तथा औ का कण्ठ व ओष्ठ है। व का स्थान दन्त व ओष्ठ है। जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वामूल है। अनुस्वार का उच्चारण स्थान नासिका है।

वर्णों के उच्चारण करते समय भीतर से आने वाली वायु के साथ जिह्वा को मुख के भिन्न-भिन्न स्थानों पर कुछ चेष्टा करनी पड़ती है। इसी यत्न कहा जाता है वर्णों के यत्न दो प्रकार हैं :

यत्न इति - यत्न दो प्रकार का होता है - आभ्यन्तर तथा बाह्य।

वर्ण के मुख से बाहर आने से पहले जो प्रयत्न किया जाता है उसे आभ्यन्तर यत्न कहते हैं। चूंकि आभ्यन्तर प्रयत्न के बिना बाह्य प्रयत्न व्यर्थ है। अतः आभ्यन्तर को प्रयत्न कहा गया है। बाह्य यत्न मुख से वर्ण के निकलने समय होता है।

आद्य इति - आद्य अर्थात् प्रथम (आभ्यन्तर) प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है - १. स्पृष्ट, २. ईषत्स्पृष्ट, ३. ईषद् विवृत, ४. विवृत तथा, संवृत। स्पर्श (क से म तक) वर्णों का प्रयत्न स्पृष्ट है। अन्तःस्थ वर्णों (य, र, ल, व) का प्रयत्न ईषत् स्पृष्ट है। ऊष्म वर्णों (श, ष, स, ह)का प्रयत्न ईषत् विवृत है। स्वरों का आभ्यन्तर प्रयत्न विवृत है।

इच्वरयेति - ह्रस्व इकार का प्रयोग काल में संवृत प्रयत्न होता है परन्तु प्रक्रिया दशा (अर्थात् साधन अवस्था) में इसका यत्न विवृत ही होता है।

स्पृष्ट प्रयत्न का अर्थ है कि वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वा तत् तत् स्थानों का स्पर्श करना जिन जिन स्थानों से वे वर्ण उच्चारित होते हैं। ईषत् स्पृष्ट का अर्थ है जिह्वा का पूर्ण रूपेण उच्चारण स्थान को स्पर्श न करना। विवृत का अर्थ है कि जिह्वा तत् तत् स्थान को स्पर्श नहीं करती है तथा कण्ठ खुला रहता है। ईषद् विवृत का अर्थ है - कण्ठ कुछ खुला रहता है।

बाह्य इति - बाह्य यत्न ग्यारह प्रकार का है। यथा -

१. विवार, २. संवार, ३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अघोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त, १०. अनुदात्त तथा ११. स्वरित।

विवार - जिस वर्ण के उच्चारण करने के समय मुख खुलता है, उसका यत्न विवार होता है।

संवार - जिस वर्ण के उच्चारण में मुख संकुचित रहता है, उस वर्ण का यत्न संवार कहलाता है

श्वास - कुछ वर्णों के उच्चारण में श्वास चलता है, उनका प्रयत्न श्वास कहा गया है।

नाद - जिस वर्ण के उच्चारण में नाद होती है, उसे नाद कहते हैं।

घोष - जिस वर्ण के उच्चारण में गूँज होती है, उसे घोष कहते हैं।

अघोष - जिस वर्ण के उच्चारण में गूँज नहीं होती है, उसे अघोष कहते हैं।

अल्पप्राण - जिस वर्ण के उच्चारण में प्राणवायु का अल्प उपयोग होता है, उसको यत्न अल्पप्राण कहा गया है।

महाप्राण - प्राणवायु का अधिक उपयोग होने पर प्रयत्न महाप्राण कहलाता है।

खर् इति - खर् वर्णों का यत्न विवार, श्वास व अघोष होता है। हश् वर्णों का संवार नाद और घोष यत्न है। वर्गों के प्रथम, तृतीय और पंचम वर्णों तथा यण् वर्णों के अल्पप्राण यत्न हैं। वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का तथा हल् वर्णों का महाप्राण यत्न है।

कादय इति - क से लेकर म पर्यन्त वर्णों को स्पर्श कहते हैं। यण् वर्णों को अन्तःस्थ कहते हैं। शल् वर्णों को ऊष्म कहते हैं। अच् वर्णों को स्वर कहते हैं। क, ख इस प्रकार 'क' व 'ख' से पूर्व आधे विसर्ग के समान ध्वनि वाले जिह्वामूलीय कहे हैं। 'प' व 'फ' से पूर्व आधे विसर्ग के समान ध्वनि को उपध्मानीय कहते हैं। अं, अः, इ को अच् से पर क्रमशः अनुस्वार या विसर्ग कहते हैं।

११. अणुदित् सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः (१/१/६९)

प्रतीयते विधीयत इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽण् उदित्च स्वसंज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण व्यवधीयते। उ ऊ ऽ ऋ ॠ ऽ ऌ ॡ एते उदितः। तत्रेदम् - अ इत्यष्टादशानां संज्ञा। तथैकारोकारौ ऋकरिंशतः। एवम् ऌकारेऽपि। एता द्वादश गाम। अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा। तेनाऽनुनासिकासो द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अणिति - अविधीयमान अण् तथा उदित् अपनी तथा अपने सवर्ण की संज्ञा होते हैं।

जिसका विधान किया जाता है उसे प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय, आगम, आदेश आदि का विधान किया जाता है। अतः प्रत्यय, आगम व आदेश विधीयमान हैं। इसलिए ये केवल अपने स्वरूप का बोध करायेंगे तथा अपने सवर्ण का बोध नहीं करायेंगे। सूत्र में पठित 'अप्रत्ययः' पद केवल 'अण्' का ही विशेषण है, उदित् का नहीं। तब 'उदित्' के सम्बन्ध में विधान या उसी प्रकार से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

चूँकि 'अण्' प्रत्याहार दो प्रकार से बनता है। यथा 'अ इ उ ण्' का 'ण्' लेकर तथा 'लण्' का 'ण्' लेकर। वस्तुतः सूत्र में पठित 'अण्' प्रत्याहार पर णकार (अर्थात् लण् वाले) से लिया जाता है तथा शेष सर्वत्र पूर्ण (अ इ उ ण् वाले) से लिया जाता है। इसके लिए कारिका दी गई है :

'परेणैवेण ग्रहः सर्वे पूर्वेणैवाणग्रहाः मताः।
ऋलेऽणुदित्सवर्णस्येत्यत्र परेण तु।।'

अर्थात् 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र पर णकार से तथा 'अण्' प्रत्याहार पूर्ण णकार से लेना चाहिए। केवल 'अणुदित्सवर्णस्य' सूत्र में 'अण्' पर णकार से लिया जाता है।

कु, चु, टु, तु, पु, इन का उत् (अर्थात् ह्रस्व उकार) इत् है। अतः इन्हें उदित् कहा जाता है। इस प्रकार अ इ उ ऋ ऌ ए ओ ऐ और ह् य् व् र् ल्; तथा उदित् (कु, चु, टु, तु, पु) अपना बोध कराते हैं तथा अपने सवर्ण का भी बोध कराते हैं। उदाहरण के लिए 'इको यणचि' सूत्र में 'इक्' के स्थान पर 'यण्' होता है। चूँकि इक् (इ, उ, ऋ, ऌ) अविधीयमान है। अतः इक् के चारों वर्ण अपने सवर्णों का भी बोध करायेंगे अर्थात् अपने दीर्घ प्लुतादि सभी भेदों का बोध करायेंगे। इस प्रकार यण् आदेश न केवल ह्रस्व इकार के स्थान पर ही होगा अपितु दीर्घ ऊकार के स्थान पर भी हो जायेगा। फलतः 'गौरी + अत्र' - यहाँ पर भी यणादेश होकर 'गौर्यत्र' रूप बन जायेगा।

तोऽमिति - इस प्रकार अकार अपने अठारह रूपों की संज्ञा होगा अर्थात् अकार कहने पर उसके १८ रूप' का स्थिति स्वतः हो जायेगी। इकार तथा उकार भी अपने अठारह-अठारह रूपों की संज्ञा होते हैं। ऋकार अपने तीस रूप का बोध करायेगा क्योंकि ऋकार व ऌकार को सावर्ण्य (ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्) के द्वारा सवर्ण कहा गया है। तो अठारह रूप ऋकार के तथा बारह रूप ऌकार के मिलकर कुल तीस रूप होते हैं। इसी प्रकार ऌकार के तीस रूप समझ लेने चाहिए। एच् वर्ण अपने बारह भेदों का ही बोध कराते हैं।

अनुनासिकेतरे - अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य, व तथा ल दो दो प्रकार के हैं। अतः य, व तथा ल अपने दो दो भेदों का बोध कराते हैं।

१२. परः सन्निकर्षः संहिता (१/४/१०९)

वर्णयोरतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात्।

पर इति - वर्णों की अत्यन्त समीपता को संहिता संज्ञा हो।

अत्यन्त समीपता का अर्थ है - व्यवधान रहित होना। यथा - 'इति अत्र' - यहाँ तकारोत्तरवर्ती इकार व 'अत्र' के अकार के मध्य कोई व्यवधान नहीं है। अतः यह संहिता संज्ञक हुआ।

१३. हलोऽनन्तराः संयोगः (१/१/७)

अव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः।

हल इति - व्यवधान रहित हल् संयोग संज्ञक हो। 'हल्' एक प्रत्याहार है जिससे सभी व्यञ्जन आते हैं। अतः जिन दो या अधिक व्यंजनों के मध्य व्यवधान न हो तो उनकी संयोग संज्ञा होती है। चूँकि व्यवधान सर्वदा विजातियों का होता है। अतः अच् वर्णों (अर्थात् स्वरों) का व्यवधान न रहने पर व्यंजनों की संयोग संज्ञा होती है। यथा- 'इन्द्र' शब्द में नकार, रेफ व दकार के मध्य किसी स्वर का व्यवधान नहीं है। अतः 'न्द्र' की संयोग संज्ञा हो गई

१४. सुप्तिङन्तं पदम् (१/४/१४)

सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात्।

।। इति संज्ञा प्रकरणम् ।।

सुबंते - सुप् और तिङ्अन्त में हैं जिनके ऐसे शब्दों की पद संज्ञा हो।

'सुप्' एक प्रत्याहार है। 'स्वौजसमौट्शस्टाभ्याम्०' सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट २१ प्रत्ययों को 'सुप्' कहा जाता है।

इसी प्रकार 'तिङ्' एक प्रत्याहार है। 'तिप्तस्झिसिप्०' सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट १८ प्रत्ययों को 'तिङ्' कहा गया है। अतः सुप् प्रत्ययान्त (राम., देवी- इत्यादि) तथा तिङ् प्रत्ययान्त (पचति, रोचयन्ति इत्यादि) शब्द स्वरूप को 'पद' कहते हैं।

एकक - ५

अनुवाद : पत्रलेखनम् च

अनुवाद - किसी भाषा के शब्दार्थ को दूसरी भाषा में प्रकट करने को अनुवाद कहते हैं।

(अनु=पश्चात्, वद्=वाद=कहना= एक बात को फिर से कहना अर्थात् एक बात को अन्य शब्दों में कहना। यद्यपि व्युत्पत्ति के अर्थ के अनुसार अनुवाद एक भाषा से उसी भाषा में भी हो सकता है, परन्तु लोकव्यवहार में अनुवाद शब्द का यौगरूढ अर्थ में प्रसिद्ध है, अर्थात् एक भाषा के शब्दार्थ को दूसरी भाषा के शब्दार्थ में प्रकट करना।)

अनुवाद-प्रणाली पर कुछ लिखने से पूर्व वाक्य में जो कर्ता, कर्म आदि शब्द रहते हैं उनका विवेचन करना तथा कारकों पर प्रकाश डालना यहाँ पर उचित होगा।

कारक (कर्त्ता, कर्म आदि) - "गोपाल पुस्तक पढ़ता है।" इस वाक्य में पढ़ने वाला 'गोपाल' है। "राम ने रावण को मारा।" इस वाक्य में मारने वाला 'राम' है। 'पढ़ना' और 'मारना' ये दो क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं के करने वाले 'गोपाल' और 'राम' हैं। क्रिया के करने वाले को कर्त्ता कहते हैं। अतः इन दो वाक्यों में 'गोपाल' और 'राम' कर्त्ता हैं।

प्रथम वाक्य में पढ़ने का विषय 'पुस्तक' है और द्वितीय वाक्य में मारने का विषय 'रावण' है। 'पुस्तक' और 'रावण' के लिए ही कर्ताओं ने क्रियाएँ कीं, अतः मुख्यतः जिस चीज के लिए कर्ता क्रिया को करता है, उसको कर्म कहते हैं।

'राजा ने अपने हाथ से ब्राह्मण को दान दिया।' इस वाक्य में दान-क्रिया की पूर्ति हाथ से हुई, अतः हाथ करण हुआ। इसी वाक्य में दान क्रिया 'ब्राह्मण' के लिए हुई, अतः 'ब्राह्मण' सम्प्रदान हुआ।

"आम के वृक्षों से भूमि पर फल गिरे।" इस वाक्य में वृक्षों से फल पृथक् हुए, अतः 'वृक्ष' अपादान हुआ। फल भूमि पर गिरे, अतः 'भूमि' अधिकरण हुई। आम का सम्बन्ध वृक्षों से है, अतः 'आम' सम्बन्ध हुआ।

उपर्युक्त लिखित चार वाक्यों में 'पढ़ना' 'मारना' 'देना' और 'गिरना' क्रियाओं के सम्पादन में जिन कर्ता, कर्म आदि शब्दों का उपयोग हुआ है, उन्हें कारक कहते हैं। कारक वह वस्तु है जिसका उपयोग क्रिया की पूर्ति के लिए किया जाता है। इस सम्बन्ध का क्रिया के सम्पादन में सीधा सम्बन्ध न होने के कारण उसे कारक नहीं माना जाता, किन्तु कतिपय वैयाकरण ने सम्बन्ध को भी कारक माना है।

कारकों को जोड़ने के लिये हिन्दी में 'ने' 'को' आदि चिन्ह् काम में आते हैं जो 'विभक्ति' (कारक-चिन्ह्) कहलाता है। संस्कृत में सात विभक्तियाँ और एक सम्बोधन होता है।

विभक्तियाँ	कारक	हिन्दी चिन्ह्
प्रथमा	कर्त्ता	ने
द्वितीया	कर्म	को
तृतीया	करण	ने, से, द्वारा
चतुर्थी	सम्प्रदान	के लिए
पंचमी	अपादान	से
षष्ठी	सम्बन्ध	का, के, की
सप्तमी	अधिकरण	में, पर
सम्बोधन	सम्बोधन	हे, अरे, अजी

हिन्दी में कर्ता, कर्म आदि सम्बन्ध दिखाने के लिए 'ने' 'को' आदि शब्द संज्ञा या सर्वनाम के पीछे जोड़ दिये जाते हैं, किन्तु संस्कृत में यह सम्बन्ध दिखाने के लिए संज्ञा या सर्वनाम का रूप ही बदल जाता है, जैसे - रामः (राम ने), रामम् (राम को), रामस्य (राम का)।

इन प्रथमा आदि विभक्तियों से कारकों का ही निर्देश नहीं होता, अपितु ये विभक्तियाँ वाक्य में प्रति, बिना, अन्तरेण, अन्तरा, ऋते, सह, साकम् आदि निपातों के योग से भी 'नाम' से परे प्रयुक्त होती हैं। ये विभक्तियाँ नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् आदि अव्ययों के योग से भी व्याहृत होती हैं। ऐसी दशा में इन्हें "उपपद विभक्तियाँ" कहते हैं।

कारकों को समझने के लिए छात्रों को अन्य भाषाओं का सहारा नहीं लेना चाहिए। उन्हें कारकों के ज्ञान अथवा शुद्ध संस्कृत भाषा के बोध के लिए संस्कृत साहित्य का परिशीलन करना चाहिए। कहाँ कौन सा कारक होना चाहिए, इसका ज्ञान शिष्टों अथवा प्रसिद्ध संस्कृत ग्रन्थकारों के व्यवहार से ही हो सकता है।

संस्कृत व्याकरण में सुबन्त और तिङन्त रूपों का प्रतिपादन किया गया है। छात्रों को ये कठिन और शुष्क प्रतीत होते हैं, क्योंकि सुबन्त तथा तिङन्त शब्दों के समस्त रूपों को याद कर लेना सुगम नहीं है। अतः आचार्य पाणिनि के नियमों के आधार पर छात्रों के लिए वैज्ञानिक एवं सुव्यवस्थित ढंग पर विषय का प्रतिपादन किया है।

नाम या सुबन्त शब्दों के साथ सात विभक्तियों के तीन वचनों में २१ प्रत्यय लगते हैं।

विकारी तथा अविकारी शब्द - ऊपर कहा जा चुका है कि वाक्य में अनेक शब्द रहते हैं; यथा (१) - "छात्रः सदा पुस्तकं पठति" (विद्यार्थी हमेशा पुस्तक पढ़ता है)। इस वाक्य को इस ढंग से भी कह सकते हैं -

(२) छात्रः सदा पुस्तकानि पठति (विद्यार्थी हमेशा पुस्तकें पढ़ता है)।

इन वाक्यों को देखने से ज्ञात होता है कि शब्दों में कुछ ऐसे शब्द हैं जिनके रूप हमेशा एक से रहते हैं, जैसे इन वाक्यों में 'सदा' शब्द है। कुछ शब्द ऐसे हैं जिनके रूपों में परिवर्तन हो जाता है, जैसे - छात्राः सदा पुस्तकानि पठन्ति (विद्यार्थी हमेशा पुस्तकें पढ़ते हैं)। यहाँ छात्रः पुस्तकं पठति - इन रूपों में परिवर्तन हो गया है किन्तु 'सदा' के रूप में परिवर्तन नहीं हुआ। अतः यह निष्कर्ष निकला कि -

जिन शब्दों के रूपों में किसी भी दशा में परिवर्तन या विकार नहीं होता वे अव्यय कहलाते हैं, जैसे ऊपर के वाक्यों में 'सदा' शब्द है। और जिन शब्दों के रूपों में परिवर्तन हो जाता है, वे विकारी शब्द कहलाते हैं।

विकारी शब्द अनेक प्रकार के होते हैं, उदाहरणार्थ -

राष्ट्रपतिः तुभ्यं सुन्दरं पारितोषिकम् अददात् (राष्ट्रपति ने तुम्हें सुन्दर इनाम दिया)।" इस वाक्य में 'राष्ट्रपतिः' शब्द संज्ञा या नाम है; तुभ्यम् (तुझे) संज्ञा के स्थान पर आया है, अतः सर्वनाम है; 'सुन्दरम्' शब्द पारितोषिक (इनाम) की विशेषता बतलाता है, अतः विशेषण है; अददात् (दिया) किसी कार्य के करने को सूचित करता है, अतः क्रिया है।

वाक्य-रचना - "नलः दमयन्तीं परिणिनाय" (नल ने दमयन्ती से विवाह किया।) इस वाक्य में पहले कर्ता (नलः), फिर कर्म (दमयन्तीम्), और अन्त में क्रिया (परिणिनाय) आयी है। अतः संस्कृत के वाक्यों का क्रम भी हिन्दी के समान ही है - पहले कर्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया। किन्तु हम ऊपर लिख आए हैं कि संस्कृत में विकारी शब्द अधिक हैं और अविकारी कम। अतः हम इन्हीं वाक्यों को इस प्रकार भी लिख सकते हैं :-

(१) दमयन्तीं नलः परिणिनाय।

(२) परिणिनाय दमयन्तीं नलः।

(३) परिणिनाय नलः दमयन्तीम्।

इन वाक्यों में शब्दों का क्रम चाहे जैसा भी हो, 'नलः कर्ता, दमयन्तीम्' कर्म और 'परिणिनाय' क्रिया ही रहती है। कारण, इन सब शब्दों में सुप् विभक्ति अथवा तिङ् विभक्ति रहती है, अतः इनके स्थान परिवर्तन करने से भी ये विभक्ति-चिन्हों द्वारा झट पहचाने जाते हैं। यह क्रम अंग्रेजी आदि अविकारी भाषाओं में नहीं पाया जाता। हिन्दी में अंग्रेजी के समान क्रिया का निश्चित स्थान रहता है। हिन्दी में क्रिया वाक्य के अन्त में आती है, किन्तु अंग्रेजी में कर्ता और कर्म के बीच। संस्कृत में अधिकांश शब्दों के विकारी होने के कारण (कर्ता, कर्म, क्रिया आदि) आगे पीछे भी आ सकते हैं और यह संस्कृत की अपनी विशेषता है।

अब इस वाक्य को देखिए -

धर्मज्ञो नलः सर्वगुणालङ्कृतां दमयन्तीं विधिना परिणिनाय। (धर्मात्मा नल ने सब गुणों से सम्पन्न दमयन्ती से विधिपूर्वक विवाह किया।)

इस वाक्य में 'धर्मज्ञ' शब्द 'नल' संज्ञा का विशेषण है और 'विधिना' शब्द 'परिणिनाय' क्रिया का विशेषण, अतः जिन शब्दों की ये विशेषता बतलाते हैं, उनके पूर्व ही इनका मुख्यतः प्रयोग होता है, अर्थात् संज्ञा शब्द का विशेषण उसके पूर्व और क्रिया-विशेषण क्रिया के पूर्व आता है, किन्तु कभी-कभी आगे पीछे भी इनका प्रयोग हो सकता है, जैसे -

नलः सर्वगुणालङ्कृतां विधिना परिणिनाय दमयन्तीम्।

नलः सर्वगुणालङ्कृतां दमयन्तीं परिणिनाय विधिना।

लिंग और वचन

उक्त वाक्यों में 'बालक' एक ऐसा नाम है जिससे पुरुष जाति का बोध होता है, अतः यह शब्द पुंल्लिंग है।

'दमयन्ती' शब्द से स्त्री जाति का बोध होता है, अतः यह स्त्रीलिंग शब्द है।

छात्रः पुस्तकानि क्रीणाति (विद्यार्थी पुस्तकें खरीदता है।) इस वाक्य में 'पुस्तकानि' शब्द से न तो पुरुष जाति का बोध होता है और न स्त्री जाति का, अतः यह शब्द नपुंसकलिंग है।

संस्कृत में लिंग-ज्ञान कोष की सहायता अथवा साहित्य के परिशीलन से ही होता है। लिंग के निर्धारण में 'लिंगानुशासन' में दिए गए नियम उपयोगी हैं।

संस्कृत में एक ही व्यक्ति या वस्तु के वाचक शब्द भिन्न-भिन्न लिंगों के हैं, यथा-तटः, तटी, तटम् (तीनों का अर्थ है किनारा है)। इसी प्रकार परिग्रह, भार्या, फलत्रम् - (तीनों का अर्थ पत्नी है)। इसी भांति संगरः, आजिः, युद्धम् (तीनों का अर्थ युद्ध है)।

कभी-कभी एक ही शब्द का कुछ अर्थभेद के कारण भिन्न-भिन्न लिंगों में प्रयोग होता है, यथा - सरस्वः (पुंल्लिंग) का अर्थ है समुद्र, किन्तु सरस्वती (स्त्रीलिंग) का अर्थ है नदी। अरण्यम् का अर्थ है वन, किन्तु अरण्यानी का अर्थ है बड़ा वन। ये सूत्र प्रत्यय भी लिंग-ज्ञान में सहायता देते हैं, किन्तु पूर्ण ज्ञान तो पाणिनि के लिंगानुशासन से ही हो सकता है।

उपर्युक्त वाक्यों में (देखें पृष्ठ 6) 'बालः' या 'छात्रः' से एक संख्या का बोध होता है, अतः ये शब्द एकवचनान्त हैं। 'पुस्तकानि' से बहुत सी पुस्तकों का बोध होता है, अतः यह शब्द बहुवचनान्त है। संस्कृत में द्विवचन भी होता है, जैसे - छात्रः पुस्तके अक्रीणात् (छात्र ने दो पुस्तकें खरीदीं)। इस वाक्य में 'पुस्तके' द्विवचन है।

संस्कृत भाषा में श्रोत्र, चक्षुस्, कर, बाहु, स्तन, चरण आदि शब्द प्रायः द्विवचन में ही प्रयुक्त होते हैं, यथा - स्खलन्तीयास्तस्याश्चरणौ न प्रसरतः (उस सखी हुई के पाँव आगे नहीं बढ़ते)। कोमलविटपानुकारिणौ बाहू (उसकी भुजाएँ कोमल लता के समान हैं।)

संस्कृत में अपने लिए बहुवचन का भी प्रयोग होता है, यथा - वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः (अभिज्ञान. 4.5 छाल पहनकर ही सन्तोष है और तुझे महीन वस्त्र से)।

संस्कृत में कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिनका बहुवचन ही प्रयोग होता है तथा दार (पत्नी) पुं०, अक्षत (पूजाद्रव्य अक्षत) क्लीव पुं०, लाजा (खील) पुं। इस प्रकार आपः (जल), सुमनसः (फूल) इन स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन में ही प्रयोग होता है। पांसु (धूलि) पुं०, धाना (भुने जौ) स्त्री० रायः, रायः (धन), (पुं०) प्राणाः, प्रकृतिः (मन्त्रिगण, या प्रजावर्ग), स्त्री० काश्मीरः (देश विशेष) बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। जब क्रिया से कोई वचन सूचित न हो तब एकवचन ही प्रयुक्त होता है, यथा - इदं हि कष्टतमम्।

सर्वनाम शब्द - बातचीत करने में एक व्यक्ति वह होता है जो बातचीत करता है; दूसरा वह होता है जिससे बातचीत की जाती है और तीसरा (चेतन अथवा अचेतन) वह होता है जिसके विषय में बातचीत की जाती है। बोलने वाला उत्तम पुरुष, जिससे बातचीत की जाती है वह मध्यम पुरुष और जिसके विषय में बातचीत की जाती है वह प्रथम पुरुष अर्थात् अन्य पुरुष कहलाता है।

एकवचन	अहम् (मैं)	त्वम् (तू)	सः (वह) सा (वह) तत् (वह)
द्विवचन	आवाम् (हम दो)	युवाम् (तुम दो)	तौ (वे दो) ते (वे दो) ते (वे दो)
बहुवचन	वयम् (हम सब)	यूयम् (तुम)	ते (वे) ताः (वे) तानि (वे)

युष्मद् और अस्मद् को छोड़कर सर्वनाम शब्द तीनों लिंगों में विशेष्य के अनुसार होते हैं।

एक शब्द एकवचन में होता है किन्तु प्रथमा बहुवचन में भी प्रयोग मिलता है। जैसे - इत्येके। द्वि शब्द द्विवचन में होता है। त्रि से लेकर अष्टादशन् तक शब्दों का बहुवचन में ही प्रयोग होता है। 'एक' से 'चतुर्' तक शब्दों का लिंग विशेष्य शब्द के अनुसार होता है, यथा - चत्वारः बालाः, चतस्रः स्त्रियः, चत्वारि फलानि। इसके बाद लिंग का भेद नहीं होता, यथा - पञ्च बालाः, पञ्च स्त्रियः, विंशतिः, बालाः, विंशतिः स्त्रियः।

एकोनविंशति तक सभी शब्द एकवचनान्त स्त्रीलिंग हैं। इनके रूप एकवचन में ही चलते हैं। इकारान्त विंशति, त्रिंशत्, सप्तति, अशीति, नवति आदि शब्दों के रूप 'मति' शब्द के समान होते हैं। तकारान्त त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत् शब्द के रूप 'सरित्' शब्द की भांति होते हैं। शतम्, सहस्रम्, अयुतम्, नियुतम् शब्द नपुंसक हैं।

संख्यावाचक शब्दों के सम्बन्ध में एक बात स्मरणीय है कि इनका तत्पुरुष समास में अन्य सुबन्तों के साथ समास नहीं हो सकता, यथा - 'विंशतितमार्यः' शुद्ध है, किन्तु 'विंशतेनार्यः' अशुद्ध है। इस प्रकार 'शतं पुरुषाः' शुद्ध है, किन्तु 'शतपुरुषाः' यह समस्त शब्द अशुद्ध है। इसी भाँति 'सप्तसप्ततितमार्यः' शुद्ध है किन्तु 'सप्तसप्ततिनार्यः' अशुद्ध है। 'पञ्चाशत फलानि क्रीणाति' शुद्ध है, किन्तु 'पञ्चाशत्फलानि' अशुद्ध है। हम कह सकते हैं कि 'शतस्य पुस्तकानां क्रियन्मूल्यम्' किन्तु 'शतपुस्तकानां क्रियन्मूल्यम्' यह प्रयोग अशुद्ध है। 'चत्वारिंशता कर्मकरैः परिखां खानयति' शुद्ध है, किन्तु 'चत्वारिंशत्कर्मकरैः परिखां खानयति' यह अशुद्ध है। यदि समास से संज्ञा का बोध होता हो तो संख्यावाचक शब्द के साथ समास हो सकता है, यथा सप्तर्षयः आदि।

तिङन्त पद (क्रिया) - "छात्रः पठति, बालकः क्रीडति" इन दो वाक्यों को देखने से ज्ञात होता है कि संस्कृत में तिङन्त क्रिया का लिंग नहीं होता; चाहे कर्ता पुल्लिंग हो या स्त्रीलिंग या नपुंसकलिंग, किन्तु क्रिया एक सी रहती है, यथा - बालकः क्रीडति, बालिका क्रीडति (बालक खेलता है, बालिका खेलती है); बालकः अगच्छत्, बालिका अगच्छत् (लड़का गया, लड़की गई)। हिन्दी भाषा में क्रियाओं के रूप कर्तृवाच्य में कर्ता के अनुसार तथा कर्मवाच्य में कर्म के अनुसार पुल्लिंग एवं स्त्रीलिंग में बदल जाते हैं, जैसे - लड़का जाता है, लड़की जाती है।

क्रिया के बिना कोई वाक्य नहीं होगा; प्रत्येक वाक्य में एक क्रिया होती है (एकतिङ् वाक्यम्)। संस्कृत भाषा में लगभग २००० धातु हैं और वे १० गणों (समूहों) में बंटी हैं। इनकी जटिलता इस कारण बढ़ गई है कि इनका प्रयोग तभी किया जाता है जब इस गणों का ठीक ठीक ज्ञान हो। फिर प्रत्येक गण में ये धातु, परस्मैपद, आत्मनेपद और उभयपद में विभक्त हैं, पचति, पचते भ्वादिगणीय है और इन्धि अदादिगणीय, इनके रूप दोनों पदों में अलग-अलग चलते हैं। धातुओं के मूल रूप - पठति-पठतः-पठन्ति, अपठत्-अपठताम्-अपठन् आदि चलते हैं; इन्हीं के प्रत्ययान्त रूप भी चलते हैं, जैसे -णिजन्त में 'पाठयति' (पढ़ाता है) और सन्नन्त में 'पिपठिषति' (पढ़ने की इच्छा करता है)।

कुछ धातु सकर्मक होती हैं और कुछ अकर्मक। सकर्मक धातुओं के रूपों के साथ किसी कर्म की आकांक्षा रहती है, किन्तु अकर्मक धातुओं के रूपों के साथ नहीं रहती है।

संस्कृत भाषा में पद दो होते हैं - परस्मैपद तथा आत्मनेपद। परस्मैपद अर्थात् वह पद जिसका फल दूसरे के लिए होता है, जैसे रामः पचति (वह पकाता है)। यहाँ पकाने की क्रिया का फल दूसरे के लिए होगा, पकाने वाले के लिए नहीं; किन्तु आत्मनेपद में क्रिया का फल अपने लिए होगा।

धातुओं के तीन वाच्य होते हैं - कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा भाववाच्य। भाववाच्य तभी होता है जब क्रिया अकर्मक हो। भाववाच्य में कर्ता तृतीयान्त होता है और क्रिया केवल प्रथम पुरुष के एकवचन में प्रयुक्त होती है; जैसे -

कर्तृवाच्य - सेवकः ग्रामं गच्छति (नौकर गाँव जाता है)।

कर्मवाच्य - मया पुस्तकं पठ्यते (मुझसे पुस्तक पढ़ी जाती है)।

भाववाच्य - मनुष्यैर्म्रियते (मनुष्य से मरा जाता है)।

संस्कृत भाषा में १० लकार

२. लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्याशिषोस्तु लिङ्लेटौ लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति॥

इस कारिका में १० लकारों के अतिरिक्त लोट् भी है। लेट् का प्रयोग वैदिक साहित्य में ही पाया जाता है। क्रियापूर्वक तथा आज्ञादि सूचक दोनों प्रकार के हैं। लट् आदि सब 'ल' से आरम्भ होते हैं, अतः इनको लकार भी कहते हैं। इनमें से लोट् और विधिलिङ् आज्ञा, अनुज्ञा, विधान आदि अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, यथा - गोपालः पठतु, पठेत् वा (गोपाल पढ़े)। आशीर्लिङ् आशीर्वाद अर्थ में आता है। लृङ् लकार हेतुहेतुमद्भूत (जहाँ एक क्रिया के होने पर दूसरी क्रिया हो) अर्थ में आता है, यथा - यदि त्वमपठिष्यः तदावश्यम् परीक्षायाम् उत्तीर्णोऽभविष्यः (यदि तुम पढ़ते तो अवश्य परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाते)। इन चार लकारों के अतिरिक्त शेष लकार काल-सूचक हैं। लट् वर्तमान काल में होता है, यथा - देवः पठति (देव पढ़ता है)। तीन लकार भूतकाल सूचक हैं - लुङ् सामान्य भूत, लङ् अनद्यतन भूत और लिट् परोक्ष भूत में आता है। २- संस्कृत व्याकरण में इन तीनों लकारों में अन्तर किया गया है। लुङ् सामान्य भूत में आता है अर्थात् सब प्रकार के भूतकाल में, लङ् अनद्यतन भूत में, अर्थात् जो बात आज से पहले की है। अतः व्याकरण की दृष्टि से 'अहमद्य पुस्तकमपठम्' (मैंने आज पुस्तक पढ़ी) अशुद्ध है। ऐसे स्थल पर लुङ् का प्रयोग होना चाहिए (अपालिषम्)। लिट् का प्रयोग परोक्ष (जो आँख के सामने न हो) ऐतिहासिक बात के लिए होता है, यथा - रामः रावणं जघान (राम ने रावण को मारा)।

संस्कृत भाषा में दस लकार अथवा वृत्तियाँ होती हैं। वे इस प्रकार हैं -

१.	वर्तमानकाल	लट्
२.	अनद्यतनभूत	लङ्
३.	सामान्य भूत	लुट्
४.	परोक्ष भूत	लिट्
५.	सामान्य भविष्यत्	लृट्
६.	अनद्यतन भविष्यत्	लुट्
७.	आज्ञा	लोट्
८.	विधि	विधिलिङ्
९.	आशीर्वाद	आशीर्लिङ्
१०.	क्रियातिपत्ति	लृङ्

वर्तमानकाल (लट्)

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु०	पठति (वह पढ़ता है)	पठतः (वे दो पढ़ते हैं)	पठन्ति (वे पढ़ते हैं)
म० पु०	पठसि (तू पढ़ता है)	पठथः (तुम दो पढ़ते हो)	पठथ (तुम पढ़ो हो)
उ० पु०	पठामि (मैं पढ़ता हूँ)	पठावः (हम दो पढ़ते हैं)	पठामः (हम पढ़ते हैं)

संक्षिप्त रूप

प्र० पु०	(सः)	असौ	(तौ)		असः	(ते)	आसन्
म० पु०	(त्वम्)	असि	(युवाम्)	(यूयम्)	अस्थ		
उ० पु०	(अहम्)	अस्मि	(आवाम्)		आस्म	(स्वम्)	आस्म

इसी प्रकार कुछ भ्वादिगण धातुएँ

धातु	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
भू (भव्) - होना	भवति	भवतः	भवन्ति
लिख् - लिखना	लिखति	लिखतः	लिखन्ति
वद् - बोलना	वदति	वदतः	वदन्ति
हस् - हँसना	हसति	हसतः	हसन्ति
धाव् - दौड़ना	धावति	धावतः	धावन्ति
रक्ष् - रक्षा करना	रक्षति	रक्षतः	रक्षन्ति
क्रीड् - खेलना	क्रीडति	क्रीडतः	क्रीडन्ति

प्रथमा विभक्ति (कर्ता)

गम्-जाना	गच्छति	गच्छतः	गच्छन्ति
आगम्-आना	आगच्छति	आगच्छतः	आगच्छन्ति
पत् - गिरना	पतति	पततः	पतन्ति
नृत् - नाचना	नृत्यति	नृत्यतः	नृत्यन्ति

कर्ता - वाक्य में जिस व्यक्ति या वस्तु के विषय में कुछ कहा जाता है उसे कर्ता कहते हैं और वह प्रथमा विभक्ति में रखा जाता है। क्रिया का पुरुष और वचन कर्ता के अनुसार होते हैं।

संस्कृत अनुवाद

इन वाक्यों को ध्यान से देखो -

(१) बालकः हसति (लड़का हँसता है)।

(२) यूयं कुत्र गच्छथ (तुम कहाँ जाते हो) ?

(३) आवाम् अत्र क्रीडावः (हम (दो) यहाँ खेलते हैं)।

(४) भवन्तः कथं न पठन्ति (आप क्यों नहीं पढ़ते हैं) ?

प्रथम वाक्य में 'हसति' क्रिया का कार्य 'बालकः' करता है, द्वितीय में 'गच्छथ' क्रिया का कार्य 'यूयम्' करता है, तृतीय में 'क्रीडावः' क्रिया का कार्य 'आवाम्' करता है और चतुर्थ वाक्य में 'पठन्ति' क्रिया का कार्य 'भवन्तः' करता है। ये सारे 'बालकः', 'यूयम्', 'आवाम्' और 'भवन्तः' कर्ता हैं क्योंकि क्रिया के करने वाले को कर्ता कहते हैं।

प्रथम वाक्य में 'हसति' क्रिया प्रथम पुरुष के एकवचन में है और उसका कर्ता 'बालकः' भी प्रथम पुरुष के एकवचन में; द्वितीय वाक्य में 'गच्छथ' क्रिया मध्यम पुरुष के बहुवचन में है और उसका कर्ता 'यूयम्' भी मध्यम पुरुष के बहुवचन में; तृतीय वाक्य में 'क्रीडावः' क्रिया उत्तम पुरुष के द्विवचन में है, और उसका कर्ता 'आवाम्' भी उत्तम पुरुष के द्विवचन में; चतुर्थ वाक्य में 'पठन्ति' क्रिया प्रथम पुरुष के बहुवचन में है और उसका कर्ता 'भवन्तः' भी प्रथम पुरुष के बहुवचन में है।

इससे निष्कर्ष यह निकला कि संस्कृत भाषा से अनुवाद करने में यदि कर्ता प्रथम पुरुष का हो तो क्रिया भी प्रथम पुरुष की और यदि कर्ता मध्यम पुरुष का हो तो क्रिया भी मध्यम पुरुष की और यदि कर्ता उत्तम पुरुष का हो तो क्रिया भी उत्तम पुरुष की होती है। इसके अतिरिक्त यदि कर्ता एकवचन में होता है तो क्रिया भी एकवचन में और कर्ता द्विवचन में होता है तो क्रिया भी द्विवचन में और कर्ता बहुवचन में होता है तो क्रिया भी बहुवचन में होती है। परन्तु भवान् (आप), भवन्तौ, (आप दो), भवन्तः (आप सब) के साथ क्रिया मध्यम पुरुष की नहीं लगती, जैसे कि त्वम्, युवाम्, यूयम् के साथ लगती है। अतः 'भवान् गच्छसि' अशुद्ध है, 'भवान् गच्छति' ही शुद्ध वाक्य है। इसी प्रकार 'भवन्तौ गच्छथः', 'भवन्तः गच्छसि' शुद्ध वाक्य हैं।

'बालकः हसति' इसी वाक्य को हम 'हसति बालकः' इस तरह भी कह सकते हैं। यह प्रणाली संस्कृत भाषा की अपनी विशेषता है, क्योंकि इसमें विभक्ति शब्दों का बाहुल्य है। अंग्रेजी भाषा के वाक्य में पहले कर्ता, फिर क्रिया और अन्त में कर्म आता है; हिन्दी में पहले कर्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया आती है; किन्तु संस्कृत में कर्ता, कर्म और क्रिया आगे-पीछे भी रखे जा सकते हैं, यथा

भवान् कुत्र गच्छति ? (आप कहाँ जाते हैं), अथवा - कुत्र गच्छति भवान् ?

इन वाक्यों में क्रिया कर्ता के अनुसार है, अतः इन वाक्यों को कर्तृवाच्य कहते हैं।

संस्कृत में अनुवाद करो -

(क) १ - गोपाल खेलता है। २ - शकुन्तला हँसती है। ३- केशव धीरे धीरे लिखता है। ४ - बन्दर (वानराः) दौड़ते हैं। ५ - हाथी (गजाः) यहाँ आते हैं। ६ - घोड़े (अश्वाः) कहाँ जाते हैं ? ७ - पत्ते (पत्राणि) और फल गिरते हैं। ८ - सुशीला क्या पढ़ती है ? ९ - रमेश और सुरेश खेलते हैं १० - लड़के आते हैं और लड़कियाँ जाती हैं।

(ख) ११ - वह जोर से (उच्चैः) हँसता है। १२ - वे कहाँ जाते हैं ? १३ - तू कहाँ जाता है ? १४ आप (भवन्तः) क्यों हँसते हैं ? १५ - तुम कहाँ जाते हो ? १६ - हम यहाँ नहीं खेल रहे हैं। १७ - तुम इस प्रकार क्यों दौड़ते हो ? १८ - तुम दो क्यों नहीं खेलते हो ? १९ वे अब क्यों नहीं पढ़ते हैं ? २० - मैं इस समय नहीं खेलता हूँ। २१ - वे अवश्य पढ़ते हैं। २२ हम सब अलग-अलग (पृथक्) पढ़ते हैं। २३ - वह वैसे ही गाती है। २४ - आप यहाँ क्यों नहीं आते ? २५ तुम रुक कर (थोड़ा) बोलते हो।

द्वितीय अभ्यास

अनद्यतन भूत (लङ्)

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु० अपठत् (उसने पढ़ा)	अपठताम् (उन दो ने पढ़ा)	अपठन् (उन्होंने पढ़ा)
म० पु० अपठः (तूने पढ़ा)	अपठतम् (तुम दो ने पढ़ा)	अपठत (तुमने पढ़ा)
उ० पु० अपठम् (मैंने पढ़ा)	अपठाव (हम दो ने पढ़ा)	अपठाम (हमने पढ़ा)

संक्षिप्त रूप

एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र० पु० (सः) अत्	(तौ) अताम्	(ते) अन्
म० पु० (त्वम्) अः	(युवाम्) अतम्	(यूयम्) अत
उ० पु० (अहम्) अम्	(आवाम्) आव	(वयम्) आम

दूसरे प्रकार :

लिख् - लिखना	अलिखत्	अलिखताम्	अलिखन्
वद्-बोलना	अवदत्	अवदताम्	अवदन्
हस्-हँसना	अहसत्	अहसताम्	अहसन्
धाव्-दौड़ना	अधावत्	अधावताम्	अधावन्
रक्ष् रक्षा करना	अरक्षत्	अरक्षताम्	अरक्षन्
क्रीड्-खेलना	अक्रीडत्	अक्रीडताम्	अक्रीडन्
गम् जाना	अगच्छत्	अगच्छताम्	अगच्छन्
पत्-गिरना	अपतत्	अपतताम्	अपतन्
नृत्-नाचना (दि०)	अनृत्यत्	अनृत्यताम्	अनृत्यन्
भू (भव्) होना	अभवत्	अभवताम्	अभवन्

भूतकाल - संस्कृत भाषा में भूतकाल के सूचक तीन लकार हैं - लिट् (परोक्ष भूत), लङ् (अनद्यतन भूत) और लुङ् (सामान्य भूत)। संस्कृत व्याकरण में इन तीनों में अन्तर माना गया है। परोक्ष भूत अर्थात् वह बात जो आँख के सामने की न हो, एक प्रकार से ऐतिहासिक हो, उसमें लिट् होता है। जैसे - 'रामो राजा बभूव' (राम राजा हुए)। अनद्यतन भूत वह बात आज की न हो पिछले दिन की हो, उसमें लङ् होता है। जैसे 'देवदत्तः ह्यः काशीमगच्छत्' (देवदत्त कल काशी गया)। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से 'रमा अद्य प्रातः पुस्तकमपठत्' (रमा ने आज पुस्तक पढ़ी) अशुद्ध वाक्य है किन्तु व्यवहार में इस भेद नहीं रह गया है। लङ् और लुङ् का किसी भेद के बिना प्रयोग किया जा रहा है, बल्कि लङ् का भूतकाल में अधिक प्रयोग होता है।

भूतकाल में 'लङ्' का प्रयोग करते समय छात्र प्रायः भूल करते हैं। वे 'उसने पढ़ा' का अनुवाद 'तेन अपठत्' करते हैं। यहाँ पर 'उसने' का अनुवाद 'सः' होगा क्योंकि प्रथमा विभक्ति का अर्थ भी 'ने' है, अतः इस वाक्य का अनुवाद 'सः अपठत्' होगा; इसी प्रकार कुछ अन्य उदाहरण -

१. शीला अपठत् (शीला ने पढ़ा)। २. तौ अवदताम् (उन दो ने कहा)। ३. ते अहसन् (वे हँसे)। ४. अहम् अधावम् (मैं दौड़ा)। ५. यूयम् अक्रीडत (तुम दो खेले)।

संस्कृत में अनुवाद करो

(क) १. बन्दर आया। २. लड़के दौड़े। ३. रमेश ने आज नहीं पढ़ा। ४. सोहन और श्याम वहाँ खेले। ५. गोपाल क्यों नहीं आया ? ६. देवेन्द्र कहाँ खेला ? ७. पिता जी कल आये। ८. इन्द्र नहीं हँसे। ९. इस समय सोहन कहाँ गया ? १०. क्रम ने कल संस्कृत नहीं पढ़ा। ११. हाथी और घोड़े दौड़े। १२. छात्रों ने क्यों नहीं पढ़ा ? १३. ईश्वर ने रक्षा की। १४. तुम दो क्या हँसे ? १५. साधु ने क्या कहा ?

(ख) १६. वे क्यों नहीं खेले ? १७. तुम क्यों हँसे ? १८. तूने क्या कहा ? १९. हमने कुछ नहीं (किमपि न) पढ़ा। २०. तुमने ऐसा क्यों लिखा ? २१. शीला नहीं नाची। २२. वे दो कहाँ गये ? २३. वे क्यों हँसे ? २४. तुमने क्या पढ़ा ? २५. क्या वह वहाँ थी ?

तृतीय अभ्यास

सामान्य भविष्यत् (लृट्)

प्र० पु० पठिष्यति (वह पढ़ेगा)	पठिष्यतः (वे दो पढ़ेंगे)	पठिष्यन्ति (वे पढ़ेंगे)
म० पु० पठिष्यसि (तू पढ़ेगा)	पठिष्यथः (तुम दो पढ़ोगे)	पठिष्यथ (तुम पढ़ोगे)

उ० पु० पठिष्यामि (मैं पढ़ूंगा) पठिष्यावः (हम दो पढ़ेंगे) पठिष्यामः (हम पढ़ेंगे)

संक्षिप्त रूप

प्र० पु०	(सः) इष्यति	(तौ) इष्यतः	(ते) इष्यन्ति
म० पु०	(त्वम्) इष्यसि	(युवाम्) इष्यथः	(यूयम्) इष्यथ
उ० पु०	(अहम्) इष्यामि	(आवाम्) इष्यावः	(वयम्) इष्यामः

इसी प्रकार :-

धातु	एकवचन	द्विवचन	बहुतवचन
लिख्-लिखना	लेखिष्यति	लेखिष्यतः	लेखिष्यन्ति
वद्-कहना	वदिष्यति	वदिष्यतः	वदिष्यन्ति
हस्-हँसना	हसिष्यति	हसिष्यतः	हसिष्यन्ति
धाव्-दौड़ना	धाविष्यति	धाविष्यतः	धाविष्यन्ति
रक्ष्-रक्षा करना	रक्षिष्यति	रक्षिष्यतः	रक्षिष्यन्ति
क्रीड्-खेलना	क्रीडिष्यति	क्रीडिष्यतः	क्रीडिष्यन्ति
गम्-जाना	गमिष्यति	गमिष्यतः	गमिष्यन्ति
आगम्-आना	आगमिष्यति	आगमिष्यतः	आगमिष्यन्ति
पत् गिरना	पतिष्यति	पतिष्यतः	पतिष्यन्ति
नृत्-नाचना (दि०)	नर्तिष्यति	नर्तिष्यतः	नर्तिष्यन्ति
भू (भव्)-होना	भविष्यति	भविष्यतः	भविष्यन्ति

भविष्यत् काल - भविष्यत् काल के सूचक दो लकार लृट् (सामान्य भविष्यत्) और लुट् (अनद्यतन भविष्यत्)। यह अन्तर भी व्यवहार में नहीं रह गया है। लुट् का प्रयोग बहुत कम देखने में आता है, केवल लृट् का ही प्रयोग होता है।

लृट् बनाने का सरल ढंग यह है कि शुद्ध धातु पर 'इ' लगाकर आगे 'ष्य' रखो और फिर वर्तमान काल की भांति 'ति' 'तः' 'न्ति' आदि प्रत्यय जोड़ दो।

उदाहरणार्थ :-

१. देवः पतिष्यति (देव पड़ेगा) २. वानराः धाविष्यन्ति (वानर दौड़ेंगे)। ३. पत्राणि पतिष्यन्ति (पत्ते गिरेंगे)। ४. त्वं कदा गमिष्यसि ? (तू कब जाएगा ?) ५. वयं क्रीडिष्यामः (हम खेलेंगे।) ६. के लेखिष्यतः (कौन दो लिखेंगी ?)

संस्कृत में अनुवाद करो :-

(क) १. गोविन्द कल आयेगा। २. श्यामा यहाँ नाचेगी। ३. हरि कल वहाँ दौड़ेगा। ४. घोड़े नहीं दौड़ेंगे। ५. लड़कियाँ जरूर नाचेंगी। ६. रमेश सुबह पढ़ेगा। ७. ईश्वर रक्षा करेगा। ८. पके हुए (पक्वानि) फल गिरेंगे। ९. कमला नहीं हँसेगी। १०. छात्र शाम को खेलेंगे। ११. हाथी यहाँ आयेंगे। १२. दो छात्र यहाँ पढ़ेंगे। १३. रजनी कब नाचेगी ? १४. दो ब्राह्मण यहाँ आयेंगे। १५. मेहमान (अतिथयः) कल जायेंगे।

(ख) १६. तुम कब जाओगे ? १७. मैं नहीं दौड़ूँगा। १८. तुम दो कब आओगे ? १९. वे क्यों हँसेंगे ? २०. मैं यहीं पढ़ूँगा। २१. हम नहीं जायेंगे। २२. वे कब नायेंगी ? २३. तुम सब यहाँ खेलोगे। २४. क्या आप यहाँ नहीं आयेंगे ? २५. राजा (नृपः) रक्षा करेगा।

चतुर्थ अभ्यास

आज्ञार्थक लोट्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०पु०	पठतु (वह पढ़े)	पठताम् (वे दो पढ़ें)	पठन्तु (वे पढ़ें)
म०पु०	पठ (तू पढ़)	पठतम् (तुम दो पढ़ो)	पठत (तुम पढ़ो)
उ०पु०	पठानि (मैं पढ़ूं)	पठाव (हम दो पढ़ें)	पठाम (हम पढ़ें)

संक्षिप्त रूप

प्र०पु० (सः)	अतु	(तौ)	अताम्	(ते)	अन्तु
म० पु० (त्वम्)	अ	(युवाम्)	अतम्	(यूयम्)	अत
उ०पु० (अहम्)	आनि	(आवाम्)	आव	(वयम्)	आम

इसी प्रकार

लिख् लिखना	लिखतु	लिखताम्	लिखन्तु
वद्-बोलना	वदतु	वदताम्	वदन्तु
हस्-हँसना	हसतु	हसताम्	हसन्तु
धाव् दौड़ना	धावतु	धावताम्	धावन्तु
रक्ष रक्षा करना	रक्षतु	रक्षताम्	रक्षन्तु
क्रीड्-खेलना	क्रीडतु	क्रीडताम्	क्रीडन्तु
गम् जाना	गच्छतु	गच्छताम्	गच्छन्तु
आगम्-आना	आगच्छतु	आगच्छताम्	आगच्छन्तु
पत्-गिरना	पततु	पतताम्	पतन्तु
नृत् नाचना (दि०)	नृत्यतु	नृत्यताम्	नृत्यन्तु
भू (भव्) होना	भवतु	भवताम्	भवन्तु

आज्ञार्थक लोट् - विधिलिङ् और लोट् लकार आज्ञा, अनुज्ञा तथा प्रार्थना आदि अर्थों के सूचक हैं। आशीर्वाद के अर्थ में भी लोट् का प्रयोग होता है।

उदाहरण

१-सुशीला गच्छतु (सुशीला जाये)। २-छात्राः क्रीडन्तु (विद्यार्थी खेलें)। ३-परमात्मा रक्षतु (ईश्वर रक्षा करे)। ४-यूयं गच्छत (तुम जाओ)। ५-बालिकाः नृत्यन्तु (लड़कियाँ नाचें)। ६-गच्छाम किम् ? (क्या हम जायें ?) ७-इदानीं छात्राः पठन्तु (इस समय छात्र पढ़ें)

(विशेष अध्ययन के लिए आगे क्रिया-प्रकरण देखिये।)

संस्कृत में अनुवाद करो

१-गोपाल और कृष्ण पढ़ें। २-नौकर (रोवकः) जाये। ३-लड़के दौड़ें। ४-भगवान् रक्षा करे। ५-सब छात्र इस समय ? ७-वे न हँसे। ८-अब आप खेलें। ९-तुम लोग पढ़ो। १०-हम दो पढ़ें ? ११-तुम दो मत हँसो। १२ तुम सब दौड़ो। १३ नर्तिष्यामि (नर्तिष्यामः) नाचें। १४ क्यों हँसाते हो ? १५-वहाँ आओ। १६ वहाँ न जाओ। १७ दौड़ो मत। १८ हँसो नहीं। १९ आओ नाचो। २० अब खेलो मत, पढ़ो। २२-सब छात्र पढ़ें। २३-तुम वहां जाओ। २४ दो छात्र जाएँ।

चतुर्थ अभ्यास

कर्म कारक (द्वितीया) 'को'

रामा शब्द

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
पुं०	देवम्	देवौ	देवान्
स्त्री०	लताम्	लते	लताः
नपुं०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि

पुंल्लिंग स्त्रीलिंग

शब्द-एकव०	द्वि०	बहुव०	एकव०	द्वि०	बहु
अस्मद्-नाम्	आवाम्	अस्मान्	मातृ	मातरौ	मातः

युष्मद् त्वाम्	युवाम्	युष्मान्	त्वाम्	युवम्	युष्मान्
तद्-तम्	ते	तान्	ताम्	ते	ताः
इदम् इमम्	इमौ	इमान्	इमाम्	इमे	इमाः
किम्-कम्	कौ	कान्	काम्	के	काः
यद् यम्	यौ	यान्	याम्	ये	याः
भवत्-भवन्तम्	भवन्तौ	भवतः	भवतीम्	भवत्यौ	भवतीः।

विधिलिङ्

	एकव०	द्विव०	बहुव०
प्र० पु०	पठेत्	पठेताम्	पठेयुः
म० पु०	पठेः	पठेतम्	पठेत
उ० पु०	पठेयम्	पठेव	पठेम

संभिन्ना रूप

अ० पु०	(सः) एतु	(तौ) एताम्	(ते) एयुः
म० पु०	(त्वम्) एः	(युवाम्) एतम्	(यूयम्) एत
उ० पु०	(अहम्) एयम्	(आवाम्) एव	(वयम्) एम
भू (भव्) होना	भवेत्	भवेताम्	भवेयुः
लिख्-लिखना	लिखेत्	लिखेताम्	लिखेयुः
वद्-बोलना	वदेत्	वदेताम्	वदेयुः
हस्-हँसना	हसेत्	हसेताम्	हसेयुः
धाव् दौड़ना	धावेत्	धावेताम्	धावेयुः
रक्ष्-रक्षा करना	रक्षेत्	रक्षेताम्	रक्षेयुः
क्रीड्-खेलना	क्रीडेत्	क्रीडेताम्	क्रीडेयुः
गम्-जाना	गच्छेत्	गच्छेताम्	गच्छेयुः
आ गम्-आना	आगच्छेत्	आगच्छेताम्	आगच्छेयुः
पत् गिरना	पतेत्	पतेताम्	पतेयुः
भू-सामर्थ्य होना	भूयात्	भूयास्ताम्	भूयासुः

इन वाक्यों को ध्यान से देखो

(१) छात्रः गुरुं नमस्करोति (छात्र गुरु को प्रणाम करता है)।

(२) सिंहः दुष्टं गजं हन्ति (सिंह दुष्ट हाथी को मारता है)।

(३) कृषकः धान्यं वपति (किसान अनाज को बोता है)।

(४) नृपः शत्रुं जयेत् (राजा शत्रु को जीते)।

(५) गुरुः शिष्यं एवं वदेत् (गुरु शिष्य से ऐसा कहे)।

कर्म

जिस वस्तु पर कर्ता की क्रिया का फल (प्रभाव) समाप्त होता है उसे कर्म कारक कहते हैं और कर्म कारक में द्वितीया विभक्ति होती है। निम्नलिखित देखिए :

"नृपः शत्रुं जयेत्" (राजा शत्रु को जीते)। इस वाक्य में 'जीतना' क्रिया का फल 'नृपः (राजा)' कर्ता पर समाप्त न होकर 'शत्रु' पर समाप्त हुआ, क्योंकि शत्रु ही जीता जाएगा। अतः 'शत्रु' कर्म कारक हुआ और उसमें द्वितीया विभक्ति (शत्रुम्) हुई। जब क्रिया का व्यापार कर्ता पर ही समाप्त हो जाता है, तब क्रिया अकर्मक होती है। जैसे 'बालकः हसति' इस वाक्य में हँसने का व्यापार कर्ता बालक पर ही समाप्त हो जाता है, अतः 'हसति' अकर्मक क्रिया का रूप है।

कर्म का उपर्युक्त लक्षण ठीक नहीं, क्योंकि साहित्य में [illegible] होता है, पर वे कर्मकारक नहीं माने जाते। "वह घर जाता है" यहाँ [illegible] 'घर' शब्द कर्म नहीं माना जाता है और न 'जाना' ही सकर्मक क्रिया है। घर का कर्म जानने के लिए विद्वान [illegible] के अनुसार कर्म की यह परिभाषा है - "कर्ता सबसे अधिक जिस पदार्थ को चाहता है, वह कर्म [illegible]" यथा - पयसः अत्ति भुङ्क्ते (दूध से भात खाता है); यहाँ दूध ही अत्यधिक चाहा जाता है अतः कर्म [illegible]

उपपद विभक्तियाँ

कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों से प्रथमा, द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तियों का निर्देश होता है किन्तु [illegible] वाक्य के प्रति, बिना, अन्तरा, सह आदि निपातों तथा नमः, स्वाहा, अलम् आदि अव्ययों के साथ में प्रयुक्त [illegible] दशा में ये "उपपद विभक्तियाँ" कहलाती हैं। उपपद विभक्तियों के उदाहरण

(१) अन्तरा, अन्तरेण और बिना के साथ द्वितीया होती है (अन्तरान्तरेण दुष्कृतं, यहाँ

(अन्तरा) गंगा यमुनां चान्तरा प्रयागराजः अस्ति (गंगा और यमुना के बीच में प्रयागराज है)।

(अन्तरेण) ज्ञानमन्तरेण (ज्ञान के बिना से) नैव सुखम् (ज्ञान के बिना सुख नहीं)

(२) अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अनु और वत्स के साथ द्वितीया विभक्ति होती है। यथा

(अभितः) प्रयागम् अभितः सन्ति गङ्गाः (प्रयाग के दोनों ओर नदियाँ बहती हैं)

(समया, निकषा) वनं समया निकषा वा सरः वर्तते (वन के समीप एक तालाब है)।

(प्रति) दीनं प्रति दया कुरु (दीन पर दया करो)।

(हा) हा नास्तिकं प्र. ईश्वरं न मन्यते (नास्तिक उस शोक है कि [illegible] नहीं मानता)।

(अनु) स्वामिनमनु सेवकः गच्छति (स्वामी के पीछे सेवक जाता है)।

(वत्स्) स वनं यावत् गच्छति (वह वन तक जाता है)।

(३) गत्यर्थक (जाना, चलना आदि) धातुओं के साथ द्वितीया होती है। यथा

कृषकः ग्रामं गच्छति (किसान गाँव जाता है)। सिंहः वनं विचरति (सिंह वन में घूमता है)।

(४) अधिशीङ्, अधिस्था, अध्यास् धातुओं के साथ द्वितीया होती है (अधिशीङ्स्थासां कर्म)। यथा

शिष्याः आसनम् अधिशेरते, अध्यास्ते, अधिशेते वा (शिष्य आसन पर बैठते हैं या सोते हैं)।

(५) उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपर्युपरि, अधोऽधः, अध्यधि के साथ द्वितीया होती है। यथा -

नगरम् उभयतः सर्वतः वा वनम्। (नगर के दोनों ओर या चारों ओर वन है)। धिक् नास्तिकं यः ईश्वरं [illegible] (नास्तिक को धिक्कार है जो ईश्वर की लीला को नहीं देखता)। उपर्युपरि लोकान् हरिः लोक के ठीक ऊपर [illegible] लोकं पातालतः (पाताल लोक के ठीक नीचे है)।

(६) समय और स्थान्वर्थक शब्दों में द्वितीया होती है, यदि अन्त तक पूरे काल या मार्ग का ज्ञान हो (कालाध्वनोरत्यन्त [illegible] यथा - रमेशः पञ्च वर्षाणि अधीते (रमेश पूरे पाँच वर्षों तक पढ़ता है)। क्रोशं [illegible] गाँव (सामने वाले पूरे [illegible] पर है)।

(७) एनप् प्रत्ययान्त शब्द की जिससे निकटता प्रतीत होती है, उसमें द्वितीया [illegible] होती है। यथा [illegible] - नगरं नगरस्य वा दक्षिणेन (नगर के दक्षिण ओर); उत्तरेण यमुनानम् (यमुना के उत्तर) [illegible] (गाँव पर कुबेर के महलों के उत्तर में मेरा घर है)।

द्विकर्मक धातुएँ - "गोपः गां पयः दोग्धि" (ग्वाला गाय से दूध दुहता है)। 'गाय से' का अनुवाद पञ्चमी द्वारा होना चाहिए था, किन्तु दुह् धातु का प्रयोग होने से पञ्चमी न होकर द्वितीया [illegible] धातुएँ तथा इनके अर्थवाली धातुएँ द्विकर्मक हैं :-

१. दुह् (दोहना) गोपः गां पयः दोग्धि (ग्वाला गाय से दूध दुहता है)।

२. याच् (माँगना) दरिद्रः राजानं वस्त्रं याचते (दरिद्र राजा से वस्त्र माँगता है)।

३. पच् (पकाना) सः तण्डुलान् ओदनं पचति (वह चावलों से भात पकाता है)।

४. दण्ड् (राजा देना) राजा चौरं शतं दण्डयति (राजा चोर को [illegible]

५- रुध् (रोकना) व्रजमवरुणद्धि गाम् (वह व्रज में गाय को रोकता है)।
६- रुध् (रोकना) व्रजमवरुणद्धि गाम् (वह व्रज में गाय को रोकता है)।
७ चि (इकट्ठा करना) लतां चिनोति पुष्पाणि (बेल से फूल चुनता है)।
८- ब्रू (बोलना) शिष्य धर्मं ब्रूते (शिष्य के लिए धर्म कहता है)।
९- शास् (शासन करना) गुरुः शिष्यं धर्मं शास्ति (गुरु शिष्य को धर्म की बात बताता है)।
१०- जि (जीतना) शत्रुं शतं जयति (शत्रु से सौ रुपये जीतता है)।
११- मन्थ् (मथना) क्षीरसागरममृतं मथ्नन्ति (क्षीरसागर से अमृत मथते हैं)
१२- मुष् (चुराना) चौरः राजानं सहस्रं मुष्णाति (चोर राजा के हजार रुपये चुराता है)।
१३ । ४ नी, वह् (ले जाना) रः ग्रामगोजां नयति वहति वा (वह गाँव को बकरी ले जाता है)।
१५- हृ (चुराना) चौरः कृपणं धनमहरत् (चोर कंजूस का धन ले गया)।
१६- कृष् (खोदना) नरः वसुधां रत्नानि कर्षन्ति (लोग जमीन से रत्न निकालते हैं)।

संस्कृत में अनुवाद करो :-

१- अलकनंदा तथा भागीरथी के बीच में देवप्रयाग है। २- मैं पत्र लिखता हूँ। ३- राम के दोनों ओर गज हैं। ४- ज्ञान के बिना सुख नहीं होता। ५- शकुन्तला ने पत्र लिखा ६- सदा सत्य बोलना चाहिए। ७ छात्र दस वर्षों तक अध्ययन करता है (अधीते)। ८- सीता कोस पर चलती है। ९ नगर के नीचे नीचे जल है। १० विद्यालय के चारों ओर फूल हैं (रोपित)। ११ नगर और विद्यालय के बीच में (अन्तरा) तालाब है। १२- मोहन घर को कब जाएगा ? १३- गुरु के पास शिष्य बैठा है। १४- राजा चोर को दण्ड देता है। १५- दुर्जन सज्जन को दुःख देता है। १६- विद्या धर्म की ओर जाती है। १७- परिश्रम के बिना विद्या नहीं होती है। १८- सिपाही (राजपुरुषः) वन तक (यावत्) चोर का पीछा करता है। १९ मेरा गाँव काशी के समीप है। २०- हम ईश्वर को नमस्कार करते हैं (नमस्कुर्मः)।

षष्ठ अभ्यास

करण कारक (तृतीया) से, से, द्वारा

संज्ञा शब्द

	एकव०	द्विव०	बहु०
पुं०	देवेन	देवाभ्याम् देवैः	
स्त्री०	लतया	लताभ्याम्	लताभिः
नपुं०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
पुल्लिंग			स्त्रीलिंग

एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहु०
त्वया	युवाभ्याम्	यूयाभिः	त्वया	युवाभ्याम्	यूयाभिः
मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
तेन	ताभ्याम्	तैः	तया	ताभ्याम्	ताभिः
अनेन	आभ्याम्	एभिः	अनया	आभ्याम्	आभिः
केन	काभ्याम्	कैः	कया	काभ्याम्	काभिः
येन	याभ्याम्	यैः	यया	याभ्याम्	याभिः
भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः	भवत्या	भवतीभ्याम्	भवतीभिः

इन वाक्यों को ध्यान से देखो :-

(१) गोपालः जलेन मुखं प्रक्षालयति (गोपाल पानी से मुँह धोता है)।
(२) सेवकः स्कन्धेन भारं वहति (नौकर कन्धे पर भार ले जाता है)।

(३) शशिना सह याति कौमुदी (चाँदनी चाँद के साथ जाती है)।

(४) कुम्भकारः दण्डेन चक्रं चालयति (कुम्हार डंडे से चाक चलाता है)।

(५) स्वर्णकारः स्वर्णेन अलङ्कारान् निर्माति (सुनार सोने से गहने बनाता है)।

(६) गोपालः अध्ययनेन अत्र वसति (गोपाल अध्ययन के लिए यहाँ रहता है)।

करण कारक (तृतीया) - क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त सहायक होता है उसे करण कहते हैं (साधकतमं करणम्)। करण में तृतीया विभक्ति होती है और कर्मवाच्य या भाववाच्य के कर्ता में भी तृतीया होती है (कर्तृकरणयोस्तृतीया)। जैसे - उदाहरण में (जलेन प्रक्षालयति) धोने में 'जल' अत्यन्त सहायक है, अतः उसमें 'तृतीया' विभक्ति हुई है। साधारण रूप से तो मुँह धोने में गोपाल अपने हाथ तथा जलपात्र दोनों की सहायता लेता है, हाथ न लगावे। तो मुँह किस प्रकार धो सकेगा तथा जल भी न होगा तो जल किसमें रखेगा ? अतः यह मानी हुई बात है कि गोपाल मुँह धोने में हाथ और जलपात्र की सहायता लेता है किन्तु मुँह धोने में जल से अधिक आवश्यकता पानी की है, अतः यहाँ अधिक सहायक हुआ कर्मवाच्य एवं भाववाच्य के कर्ता में तृतीया होती है, यथा - (कर्मवाच्य) मया पुस्तकं पठ्यते। (भाववाच्य) - तेन हस्यते। इनका विस्तृत वर्णन द्वितीय अभ्यास के पंचदश अभ्यास में दिया गया है।

'अनभिहिते' में बताया गया है कि 'सह, साकम्' आदि निपातों तथा अव्ययों के योग में भी ये विभक्तियाँ व्यवहृत होती हैं। अतः ये उपपद विभक्तियाँ कहलाती हैं। इनके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं

१- जिस लक्षण (चिन्ह) से किसी व्यक्ति या वस्तु का ज्ञान होता है, उस लक्षणबोध शब्द में तृतीया विभक्ति होती है (इत्थंभूतलक्षणे); यथा - जटाभिस्तापसः (जटा से तपस्वी ज्ञात होता है), स्वरेण रामभद्रमनुमिनोति (स्वर से राम को समझता है)।

२ - यदि शरीर में किसी अंग में विकृति दिखाई पड़े तो विकृत अंग के वाचक शब्द में तृतीया विभक्ति होती है (येनाङ्गविकारः), यथा नेत्रेण काणः (आँख से काना), कर्णेन बधिरः (कान से बहरा)।

३ - कारण (हेतु) बोधक शब्दों में तृतीया होती है, यथा - सः अध्ययनेन वसति (वह पढ़ने के लिए रहता है), विद्यया यशः भवति (विद्या से यश होता है)। वास का हेतु 'अध्ययन' और यश का हेतु 'विद्या' है। गुणैः आत्मसदृशीं कन्यामुपयच्छस्व गुणों में अपने समान कन्या से विवाह करो), सीता वीणावादनेन शीलमस्तीति (सीता वीणा बजाने में शीला से बढ़ गयी है), श्रीरिव रूपेणाधिकाभाति (वह सुन्दर में लक्ष्मी से भी बढ़ चढ़ कर है)।

४ - पृथक् (अलग), विना, नाना शब्दों के साथ द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्तियों में से कोई एक होती है (पृथग्विनानानाभिस्तृतीयान्यतरस्याम्)। जैसे - दशरथो रामेण, रामात्, रामं वा विना नास्तीवत् अयोध्या पापं स्म पृथगपसर्प। विना या वर्जन अर्थ के होने पर ही नाना के योग में द्वितीया, तृतीया या पञ्चमी होती है। जैसे - नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा (स्त्री के बिना जीवन निष्फल है)।

५ - प्रकृति (स्वभाव) आदि लिङ्गनिर्देशक शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है (प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्)। यथा - हरिः सुखेन जीवति (मोहन सुख से रहता है)। प्रकृत्या स्वयं पयः मधुरम् (स्वभावतः गौओं का दूध मीठा होता है), सः स्वभावेन मे प्रियः (वह स्वभाव से प्रिय है)।

६ - लिङ्, कार्यम्, अर्थः, प्रयोजनम् और अलम् के साथ तृतीया होती है। यथा - धनेन किम् (धन से क्या), तृणैः अपि कार्यं भवति (तिनके से भी कार्य होता है), कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः (ऐसा पुत्र के पैदा होने से क्या लाभ, जो न विद्वान् हो और न धार्मिक हो) ? तृणाय किं पुस्तकैः प्रयोजनम् (मूर्खों का पुस्तकों से क्या प्रयोजन) ? अलं हसितेन (हँसो मत)।

७ - सह, साकम्, सार्धम्, समम् के साथ वाले शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है (सहयुक्तेऽप्रधाने)। यथा - पितरा सह विद्यालयं गच्छति।

८ - फलप्राप्ति (आदान) में भी तृतीया विभक्ति होती है। यथा - दशभिः वर्षैः अध्ययनं समाप्तम् (दस वर्षों में अध्ययन समाप्त हो गया)। अर्थात् दस वर्षों में अध्ययन का फल मिल गया।

९ - तुल्य अर्थ में भी तृतीया विभक्ति होती है। यथा - स देवेन समः (वह देव के समान है), वर्णेन राधा कृष्णस्य समा (राधा कृष्ण के समान है)।

संस्कृत में अनुवाद करो :-

१ वह कलम (लेखनी) से लिखता है २- श्यामा जल से मुख धो रही है (प्रक्षालयति)। ३- सीता और अधिक न सोचकर घर को गयी। ४- किस कारण वहाँ रहते हो (वससि)? ५- इन्स्पेक्टर (निरीक्षकः) मोटर से (मोटरयानेन) [illegible]

६- नाई (नापितः) उस्तरे से (क्षुरेण) हजामत बनाता है (शिरःमुण्डयति)। ७- धन से ही मनुष्य दुःखी रहता है (सन्तप्यते)। ८-मनोरथों से कार्य सिद्ध नहीं होते हैं (सिध्यन्ति)। ९- पुत्र के बिना माता दुःख से समय बिताती है (गमयति)। १०- बुरे लड़कों के साथ मत खेलो। ११-रमेश स्वभाव से अच्छा (साधुः) है। १२- वह साधुन से (कोमलेन) मुँह धोता है। १३ विद्यार्थी बालकों के साथ गेंद (कन्दुक) खेलते हैं।१४ वीरेन्द्र ने तलवार (खड्गेन) से चीते को (द्वीपिनम्) मारा। १५- जटा से वह तपस्वी लगता है (प्रतीयते)। १६ बालक बंदरों के साथ खेलते हैं।१७-राष्ट्रपति के साथ सेनापति यहाँ आया। १८-यात्रियों ने (यात्रिकाः) साधुओं के साथ स्नान किया। १९-बहुमत से प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। २०-सिपाहियों ने लाठी से (यष्टिकया) चोरों को पीटा (अताडयन्)।

सप्तम अभ्यास

सम्प्रदान कारक (चतुर्थी) (को,के लिए)

संज्ञा-शब्द

	एकव०	द्विव०	बहु०
पुं०	देवाय	देवाभ्याम्	देवेभ्यः
स्त्री०	लतायै	लताभ्याम्	लताभ्यः
नपुं०	ज्ञानाय	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः

सर्वनाम शब्द

पुल्लिंग			स्त्रीलिंग		
एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहु०
मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्	मह्यम्	आवाभ्याम्	अस्मभ्यम्
तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्	तुभ्यम्	युवाभ्याम्	युष्मभ्यम्
तस्मै	ताभ्याम्	तेभ्यः	तस्यै	ताभ्याम्	ताभ्यः
यस्मै	याभ्याम्	येभ्यः	यस्यै	याभ्याम्	याभ्यः
कस्मै	काभ्याम्	केभ्यः	कस्यै	काभ्याम्	काभ्यः
अस्मै	आभ्याम्	एभ्यः	अस्यै	आभ्याम्	आभ्यः
भवते	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः	भवत्यै	भवतीभ्याम्	भवतीभ्यः

इन वाक्यों को ध्यान से पढ़ो -

(१) उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये (मूर्खों को उपदेश देना केवल उनका क्रोध बढ़ाना है, वह शान्ति के लिए नहीं होता)।

(२) कृषकेभ्यः कर्मकरेभ्यश्च कुशलं भूयात् (किसानों तथा मजदूरों का भला हो)।

(३) अलमेतत् उत्साहप्रशाय विदेधाति (यह उत्साह नष्ट करने के लिए पर्याप्त है)।

(४) अलं मल्लो मल्लाय (यह पहलवान उस पहलवान के जोड़ के लिए पर्याप्त है)।

(५) आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि (तुम्हारा हथियार पीड़ितों की रक्षा के लिए है, न कि निर्दोषों को मारने के लिए)

(६) इदमस्मै कर्म गृहाण (इस पर कर्म फेंको)। (जिस पर अस्त्र या शस्त्र फेंका जाता है (दृ+ह), उसमें चतुर्थी होती है।)

सम्प्रदान कारक (चतुर्थी) दान के द्वारा जिसे कर्ता सन्तुष्ट करना चाहता है, वह पदार्थ सम्प्रदान कहा जाता है (कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्)। सम्प्रदान में चतुर्थी होती है। यथा - ब्राह्मणेभ्यः गाः ददाति (ब्राह्मणों को गौएं देता है)। यहां गोदान कर्म के द्वारा ब्राह्मणों को ही सन्तुष्ट करना कर्ता को अभीष्ट है। सम्प्रदान का अर्थ है अच्छा दान; अर्थात् जिसमें दी हुई वस्तु सदा के लिए दी जाती है; दान दाता के पास वापस नहीं आता "स रजकस्य वस्त्रं ददाति" (वह धोबी को कपड़े देता है)। इसमें वह कपड़े धोबी को सदा के लिए नहीं देता है, अपितु उन्हें वापस ले लेता है, इस कारण 'रजकस्य' में चतुर्थी नहीं हुई। न केवल कर्म द्वारा, अपितु किसी विशेष क्रिया द्वारा जो अभिप्रेत हो वह भी सम्प्रदान समझा जाता है (क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्)। जैसे - 'पत्ये शेते' यहां पर पति को अनुकूल बनाने की क्रिया का अभिप्रेत पति ही है, अतः पति सम्प्रदान हुआ।

सम्प्रदान कारक में ही चतुर्थी नहीं होती, अपितु उपपद विभक्तियों के साथ भी चतुर्थी होती है।

१ जिस प्रयोजन के लिए कोई क्रिया की जाती है उसमें चतुर्थी होती है (तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या) यथा - मुक्तये हरिं भजति (भक्त मुक्ति के लिए हरि का भजन करता है)। बालः दुग्धाय क्रन्दति (बालक दूध के लिए रोता है)। धनाय यत्नं करोति (वह धन के लिए प्रयत्न करता है)।

२- रुच् (अच्छा लगना) तथा रुच् के अर्थ वाली धातुओं के योग में चतुर्थी होती है (रुच्यर्थानां प्रीयमाणः)। यथा - शिशवे क्रीडनकं रोचते (बच्चे को खिलौना अच्छा लगता है)। रमायै रामायणं रोचते (रमा को रामायण अच्छी लगती है।

३- क्रुध्, द्रुह, ईर्ष्य, असूय अर्थ वाली धातुओं के साथ जिस पर क्रोध किया जाता है, उसमें चतुर्थी होती है (क्रुद्धद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः)। यथा - गुरुः शिष्याय क्रुध्यति (गुरु शिष्य पर क्रोध करता है)। मूर्खः पण्डिताय द्रुह्यति (मूर्ख पण्डित से द्रोह करता है) शिक्षकः छात्राय कुप्यति (अध्यापक छात्र पर क्रोध करता है)।

४- नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, वषट् के योग में चतुर्थी होती है (नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालंवषड्योगाच्च)। यथा - ईश्वराय नमः (ईश्वर को नमस्कार), प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजा को कल्याण हो), अग्नये स्वाहा, पितृभ्यः स्वधा, दुर्गां सङ्कटमलम्। इन्द्राय वषट्।

५- हित और सुख शब्दों के योग में चतुर्थी होती है। यथा - ब्राह्मणाय हितं सुखं वा भवेत् (ब्राह्मण का हित ।

६- कथ् (कथय), निवेदय्, उपदिश्, धारय (ऋणी होना) स्पृह्, कल्पते, सम्पद्यते (होना) के साथ चतुर्थी होती है। यथा - विद्या ज्ञानाय कल्पते, सम्पद्यते वा (विद्या जानने के लिए होती है)। गुरुः शिष्याय कथयति, उपदिशति वा (गुरु शिष्य को उपदेश करता है)। स मह्यं शतं धारयति (उसे मेरे सौ रुपये देने हैं)। मुक्तये तपस्वी स्पृहयति (तपस्वी मुक्ति की इच्छा करता है)।

७- निमित्त अर्थ में चतुर्थी होती है। यथा-विद्या ज्ञानाय भवति, धनं च सुखाय (विद्या ज्ञान के लिए और धन सुख के लिए होता है)।

८- सामर्थ्य अर्थवाली धातुओं के साथ चतुर्थी होती है। यथा-प्रभवति मल्लो मल्लाय (एक पहलवान दूसरे पहलवान के साथ लड़ने को समर्थ है)।

९- तुमुन् के अर्थ में चतुर्थी होती है, यथा - सः यज्ञाय (यष्टुं) याति (वह हवन करने के लिए जाता है।

१० चतुर्थी के अर्थ में 'कृते' और 'अर्थम्' का भी प्रयोग होता है, यथा - पठनार्थम्, पठनस्य कृते (पढ़ने के लिए।

संस्कृत में अनुवाद करो

१- मैं धन की इच्छा नहीं करता हूँ (स्पृहयामि)। २-सज्जन सदैव परोपकार की चेष्टा करता है (चेष्टते)। ३-गुरु शिष्य को उपदेश करता है। ४-बालक को लड्डू (मोदकः) अच्छा लगता है। ५-वह मूर्ख तुमसे ईर्ष्या करता है। ६-वह दुर्जन सज्जन से द्रोह करता है। ७-पिता पुत्र पर क्रोध करता है। ८-सोहन मेरे सौ रुपये का ऋणी है। ९-मुनि मोक्ष के लिए ईश्वर को भजता है। १० राजा ने ब्राह्मणों को धन दिया। ११-इन्स्पेक्टर ने मोहन को इनाम (पारितोषिक) दिया। १२-शिक्षा ज्ञान के लिए होती है। १३-पढ़ने के लिए विद्यालय जाओ। १४-तुम मुझसे क्यों ईर्ष्या करते हो ? १५- यह दवा (अगदम्) रोगी को दे दो। १६-वह धन की इच्छा करता है। १७ घोड़े के लिए घास लाओ। १८ जन प्राचीन गुरुओं के लिए नमस्कार है। १९-ब्राह्मणों और गौओं का कल्याण हो। २०-रुग्ण रोगी को खट्टी-सी खिचड़ी (तरलं यूशरम्) दे दो। २१-उसे पतला भात (सः ओदनसारजी); इससे लंघन ही अच्छा (लंघनं हितम्) है। २२-बालकों को भ्रमण अच्छा लगता है।

अष्टम अभ्यास

अपादान कारक (पञ्चमी) 'से'

सेब्ज शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
पु०	देवात्	देवाभ्याम्	देवेभ्यः
स्त्री०	लतायाः	लताभ्याम्	लताभ्यः
नपुं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः

सर्वनाम शब्द

पुंल्लिंग			स्त्रीलिंग		
एकव०	द्विव०	बहुव०	एकव०	द्विव०	बहुव०
मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्	मत्	आवाभ्याम्	अस्मत्
त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्	त्वत्	युवाभ्याम्	युष्मत्
तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः	तस्याः	ताभ्याम्	ताभ्यः
अस्मत्	आभ्याम्	एभ्यः	अस्याः	आभ्याम्	आभ्यः
कस्मात्	काभ्याम्	केभ्यः	कस्याः	काभ्याम्	काभ्यः
यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः	यस्याः	याभ्याम्	याभ्यः
भवत्	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः	भवत्याः	भवतीभ्याम्	भवतीभ्यः

इन वाक्यों को ध्यान से देखो :-

(१) धीराः मनस्विनः न धनात्प्रतियच्छन्ति मानम् (धीर मनस्वी लोग धन के बदले मान को नहीं छोड़ते)।

(२) स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रमदासिरिदंद (सत्पुरुषों के लिए अपने प्रयोजन से मित्रों का प्रयोजन बड़ा है)।

(३) नास्ति सत्यात्परो धर्मो नानृतात् पातकं महत् (सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं, झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं)।

(४) दुर्जनात् कस्य भयं न जायते (दुष्ट से किसको डर नहीं लगता) ?

(५) आगूलात् रहस्यमिदं श्रोतुमिच्छामि (आरम्भ से इस रहस्य को सुनना चाहता हूँ)।

(६) हिमालयात् गंगा प्रभवति (गंगा हिमालय से निकलती है)।

अपादान कारक (पञ्चमी) - जिससे कोई वस्तु पृथक् (अलग) हो, उसे अपादान कहते हैं (ध्रुवमपायेऽपादानम्)। अपादान में पञ्चमी होती है। यथा वृक्षात् पत्राणि पतन्ति (पेड़ से पत्ते गिरते हैं)। यदि अपादान में पृथक्करण का भाव न हो तो पञ्चमी नहीं होती, जैसे - "वर्षं तेभ्यो ग्रामेष्वागमिष्यामि" (जितने समय से मैं तुम्हें ढूंढ रहा हूँ)। यहाँ पर 'तेभ्यः' अलग नहीं है, अन्वेषण-क्रिया से व्याप्त काल है; अतः 'अत्यन्त संयोग' में द्वितीया हुई। इसी प्रकार "वृक्षशाखासु अवलम्बन्ते मुनीनां वल्कलानि" (मुनियों के वस्त्र वृक्ष की शाखाओं से लटक रहे हैं)। यहाँ पर वृक्षशाखा अपादान कारक नहीं, अपितु 'अधिकरण कारक' (वस्त्रों की अवलम्बन क्रिया का आधार) है।

१- भय और रक्षा के अर्थवाली धातुओं के साथ भय के कारण में पञ्चमी होती है, (भीत्रार्थानां भयहेतुः)। यथा-आसज्जनात् कस्य भयं न जायते ? बालकः सिंहात् बिभेति।

२- जुगुप्सते, 'घेरमाति, प्रमाद्यति के साथ पञ्चमी होती है। (जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसंख्यानम्), सः धर्मात् प्रमाद्यति।

३- जिस वस्तु से किसी को हटाया जाए, उसमें पञ्चमी होती है (वारणार्थानामीप्सितः) यथा - योऽन्यं गां गाययति क्षेत्रे (खेत में जो दूसरे गाय को हटाता है)। गुरुः शिष्यं पापात् वारयति।

४- जिस गुरु या अध्यापक से नियमपूर्वक विद्या सीखी जाए, उसमें पञ्चमी होती है (आख्यातोपयोगे)। यथा-उपाध्यायात् अधीते (गुरु से पढ़ता है)। तेभ्योऽध्येतुन्तु विनष्टान्तेभ्यो वाल्मीकिपार्श्वमेवेह पर्यट मि (७।७) (उन लोगों से वेद पढ़ने के लिए मैं वाल्मीकि के पास से इस स्थान पर चली आयी हूं)।

५- जायते, प्रभवति, उद्गच्छति, उदेति, निलीयते, प्रतियच्छति के साथ पञ्चमी होती है। यथा - प्रजापतेः लोकः प्रजायते (प्रजापति से संसार पैदा होता है)। हिमालयात् गंगा प्रभवति, उद्गच्छति वा (हिमालय से गंगा निकलती है)। ४ जतुकपात् और :- निलीयते (रोपाही से चोर छिपता है)। तिलेभ्यः गामान् प्रतियच्छति (तिलों से उड़द बदलते हैं)।

६- अन्य, आरात्, इतर, (इनके अर्थ वाले शब्द भी), ऋते, (पूर्व आदि) दिशावाचक और कालवाचक तथा प्रभृति और यहि: शब्दों के साथ पञ्चमी होती है - अन्यारादितरर्तेदिक्। यथा- ज्ञानात् ऋते न सुखम् (ज्ञान के बिना सुख नहीं है)। नगरात् पूर्वः, पश्चिमः, उत्तरः, दक्षिणः, प्राक् (नगर से पूर्व की ओर)। शैशवात् प्रभृति सोऽतीव चतुरः (बचपन से वह अद्भुत चतुर है)। नगराद् बहिः (नगर से बाहर)।

७- तरप् अथवा ईयसुन् प्रत्ययान्त पद के द्वारा अथवा साधारण विशेषण या क्रिया द्वारा जिससे तुलनात्मक भेद दिखाया जाता है उसमें पञ्चमी होती है। यथा - धनात् ज्ञानं गुरुतरम् (धन से ज्ञान अच्छा है), देवात् रमेशः पटुतरः (देव से रमेश निपुण है)।

८-पृथक् और विना के साथ पञ्चमी, द्वितीया और तृतीया विभक्तियाँ होती हैं (पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् ५ . यथा - स मातुः (अन्तरम् भ्राता वा) पृथक् निद्रकृति, अगाद् (अन्तरेण वा) विना विद्या न यवति (परिश्रम के बिना विद्या नहीं आती)।

९-दूर और सामीपवाचक शब्दों में पञ्चमी, द्वितीया और तृतीया होती है (दूरान्तिकार्थैर्योगे द्वितीया च। यथा - ग्रामात् दूरात् दूरं दूरेण वा।

१० जब ल्यप् प्रत्ययान्त (उत्तरीय, वीक्ष्य आदि) अथवा क्त्वा प्रत्ययान्त (दृष्ट्वा, गत्वा आदि) क्रिया जोड़ने से कर्म नहीं की जाती, किन्तु छिपी रहती है तब उस क्रिया के कर्म आधारपञ्चमी में होते हैं - यथा प्रासादात् प्रेक्षते अर्थात् प्रासादस्थः प्रेक्षते, (महल से देखता है)। आसनात् प्रेक्षते अर्थात् आसने स्थित्वा प्रेक्षते (आसन पर बैठकर देखता है)। श्वशुरात् निलीयते - श्वसुर को देख कर लज्जा करती है)।

संस्कृत में अनुवाद करो -

१-बालक ऊँचे महल से गिर पड़ा। २-धर्म से सुख और अधर्म से दुःख होता है। ३-पेड़ से पके हुए फल नीचे गिर रहे हैं। ४-मैं सिंह से नहीं डरता हूँ, दुर्जन से डरता हूँ। ५- गंगा और यमुना हिमालय से निकलती हैं। ६ - पाप से पुण्य की ओर साधु रहते हैं। ७-तिलक जी बचपन से ही चतुर थे। ८-परीक्षा के पाँचवें दिन रमेश आ गया। ९ बनिया (वणिक्) से बनता (तण्डुल) से उड़द नहीं बदलता है। १०-गुरु शिष्य को पाप से हटाते हैं। ११-विद्यालय नगर से दूर नहीं है। १२-ब्रह्मा से ब्राह्मण लोक पैदा होते हैं। १३-सज्जन जन से घृणा करता है। १४-बालक माता से छिपता है। १५-इस नाटककार से वह कवि अधिक चतुर है। १६-घुड़सवार (सादी) घोड़े से गिर पड़ा। १७-गुरु से विद्या पढ़ो। १८ वह बाल्यकाल से यहीं रहता है। १९ बन्दर श्याम से अधिक बुद्धिमान (बुद्धिमत्तरः) है। २०-श्वसुर से बहू लज्जा करती है। २१-ज्ञान के बिना सुख नहीं है। २२ वह आँख लगाकर (सन्धिं विधाय) चौकीदारों से (प्रहरिभ्यः) छिप गये (तिरोऽभवन्)। २३-मूढ़ मृत्यु से डरते हैं।

नवम अभ्यास

सम्बन्ध (षष्ठी) का, के, की

संज्ञा-शब्द

	एक०	द्वि०	बहु०
पुं०	देवस्य	देवयोः	देवानाम्
स्त्री०	लतायाः	लतयोः	लतासु
नपुं०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्

सर्वनाम शब्द

पुल्लिंग			स्त्रीलिंग		
एक०	द्वि०	बहु०	एक०	द्वि०	बहु०
मम	आवयोः	अस्माकम्	मम	आवयोः	अस्माकम्
तव	युवयोः	युष्माकम्	तव	युवयोः	युष्माकम्
तस्य	तयोः	तेषाम्	तस्याः	तयोः	तासाम्
अस्य	अनयोः	एषाम्	अस्याः	अनयोः	आसाम्
कस्य	कयोः	केषाम्	कस्याः	कयोः	कासाम्
यस्य	ययोः	येषाम्	यस्याः	ययोः	यासाम्
भवतः	भवतोः	भवताम्	भवत्याः	भवत्योः	भवतीनाम्

इन वाक्यों को ध्यान से देखो -

(१) न हि परगुणानां विज्ञातारो बहवो भवन्ति (दूसरे के गुणों को जानने वाले बहुत कम होते हैं)।

(२) पुत्र! लोकव्यवहाराणाम् अनभिज्ञोऽसि (बेटा, तुम लोकव्यवहार को नहीं जानते।)

(३) गन्तव्या ते वसतिरलकां नाम यक्षेश्वराणाम् (तुम्हें यक्षेश्वरों की नगरी अलका को जाना है)

(४) विचित्रा हि सूत्रपाणां कृतिः पाणिनेः (पाणिनि के सूत्रों की रचना विचित्र है)।

(५) अलसस्य कुतो विद्या, अविद्यस्य कुतो धनम्। अधनस्य कुतो मित्रम् अमित्रस्य कुतः सुखम् (आलसी को विद्या कहाँ? विद्या के बिना धन कहाँ ? धन के बिना मित्र कहाँ ? मित्र के बिना सुख कहाँ ?)

सम्बन्ध (षष्ठी) - स्वामी तथा भृत्य, जन्य तथा जनक, कर्त्ता तथा कारण आदि सम्बन्ध दिखाने के लिए षष्ठी का प्रयोग होता है। उसका क्रिया से साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता जैसा कि प्रथमा, द्वितीया आदि विभक्तियों का होता है। जैसे - मम पुस्तकम् (मेरी पुस्तक), गंगायाः जलम् (गंगा का जल)।

षष्ठी विभक्ति से 'स्वामी' अथवा 'रखने वाले' का बोध होता है। जो वस्तु रखी जाती है अथवा जिस पर स्वामित्व होता है, वह प्रथमा में रखी जाती है। यथा-यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा (जो स्वयं बुद्धि नहीं रखता), इमे नौ गृहाः (ये हमारे घर हैं), स्खलनं मनुष्याणां धर्मः (गलती करना मनुष्य का स्वभाव है)।

१. हेतु शब्द के साथ षष्ठी होती है। यथा-अन्नस्य हेतोर्वसति (अन्न के कारण रहता है)।

२. अधिपूर्वक 'इ' (स्मरण करना), दय् (दया करना), ईश् (समर्थ होना) तथा इन्हीं अर्थों वाली अन्य धातुओं के कर्म में षष्ठी होती है (अधीगर्थदयेशां कर्मणि)। यथा - मातुः स्मरति (माता को याद करता है)। स दरिद्रस्य दयते। प्रभवति निजस्य कन्यकाजनस्य महाराजः (महाराज अपनी पुत्री के ऊपर समर्थ हैं)।

३. समीपे, सन्निकृष्टात्, अधः उपरिष्टात्, पुरः पुरस्तात्, पश्चात्, दाद्, उत्तरतः, दक्षिणतः के साथ षष्ठी होती है (प्रकृतिसर्वप्रत्ययेन)। यथा - नगरस्य उत्तरतः दक्षिणतः। तस्याः स्थित्वा क्षणमपि पुरः कौतुकाधानहेतोः। पतिव्रतानामग्रे कीर्तनीया सुदक्षिणा।

४. निमित्त अर्थ वाले शब्दों (निमित्त, कारण, प्रयोजन, हेतु) के साथ प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं (निमित्तयोगेयप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्)। यथा कि निमित्तं वरारि, केन निमित्तेन, करणे तोयेनेत्यादि, करय हेतोः, करणात् प्रयोजनात्, केन कारणेन?

५. बहुतों में से एक छाँटने के अर्थ में, जिससे छाँटा जाये उसमें, षष्ठी होती है (सतश्च निर्धारणम्), यथा-छात्राणां छात्रेषु वा गोविन्दः श्रेष्ठः पटुतमो वा।

६. कृते (लिए), भाये, रामाय, अन्तरे, अन्तः के साथ षष्ठी होती है। यथा बालकस्य कृते, गुरोः सकाशात्, बालानां भाये, गृहस्य अन्तः आचारे वा।

७. आशीर्वादसूचक शब्दों के साथ षष्ठी और चतुर्थी दोनों ही होती हैं, यथा-नृपस्य नृपाय वा भद्रं, कुशलं वा भूयात्।

८. तिरस्कार (तिरस्कार) करने के लिए कोई कार्य किया जाता है उसमें षष्ठी या सप्तमी होती है (षष्ठी चानादरे)। जैसे - रुदतः शिशोः, रुदति वा शिशौ, माता बहिरगच्छत्। (रोते हुए बालक को तिरस्कार करके माता बाहर चली गई)।

९. अंशवाची षष्ठी-जिसके सम्पूर्ण का बोध कराने के लिए एक अंश का ही नाम लिया जाता है। जैसे - जलस्य बिन्दुः (जल की बूँद), पञ्च शतसहस्राणि (पाँच लाख गायें), गृह्यतामेतदोदनस्यान्तरम् (इस में से एक स्वीकार कर ली जाये)। त्वमेव कल्याणि नगरश्रीणां (हे कल्याणि, तुम्हीं नगरश्री हो)।

संस्कृत में अनुवाद करो

१. हमारा गाँव नगर के निकट है। २. अनेक कवियों ने हिमालय की प्रशंसा की है। ३. गंगा का जल निर्मल और मधुर है। ४. वह पढ़ने के हेतु काशी में रहता है। ५. हिमालय भारतवर्ष की उत्तर दिशा में है। ६. गोपाल पिता को स्मरण करता है। ७. पुस्तकों में गीता श्रेष्ठ है और वेद सबसे प्राचीन है। ८. मूर्ख धन के निमित्त ही जीते हैं। ९. वह घर के आगे पृथ्वी खोदता है (खनति)। १०. मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। पक्षियों में कौवा (वायस) चतुर है और पशुओं में शृंगाल। ११. परिश्रम का फल अवश्य मिलता है। १३. गुरु की निन्दा पाप है। १४. वह बकरी का (अजायाः) दूध चाहता है। १५. इस नगर के उत्तर की ओर गोमती है। १६. देवताओं ने भी भारत की प्रशंसा की। १७. बालक पिता का अनुकरण करता है (अनुकरोति)। १८. यह छात्रा सब में चतुर है। १९. वाराणसी के आम मीठे होते हैं। २०. बाग की शोभा देखो।

दशम अभ्यास

अधिकरण कारक (सप्तमी) (में, पर)

संज्ञा-शब्द

	एकव०	द्विव०	बहुव०
पु०	देवे	देवयोः	देवेषु
स्त्री०	लतायाम्	लतयोः	लतासु
नपुं०	ज्ञाने	ज्ञानयोः	ज्ञानेषु

सर्वनाम शब्द

पुल्लिंग			स्त्रीलिंग		
एकव०	द्विव०	बहु०	एकव०	द्विव०	बहु०
मयि	आवयोः	अस्मासु	मयि	आवयोः	अस्मासु
त्वयि	युवयोः	युष्मासु	त्वयि	युवयोः	युष्मासु
तस्मिन्	तयोः	तेषु	तस्याम्	तयोः	तासु
अस्मिन्	अनयोः	एषु	अस्याम्	अनयोः	आसु
कस्मिन्	कयोः	केषु	कस्याम्	कयोः	कासु
यस्मिन्	ययोः	येषु	यस्याम्	ययोः	यासु
भवति	भवतोः	भवत्सु	भवत्याम्	भवत्योः	भवतीषु

इन वाक्यों को ध्यान से पढ़ो:

(१) कथमेतस्मिन्नपि पूजार्हेऽपराद्धा शकुन्तला। (शकुन्तला ने किसी पूजनीय के प्रति अपराध किया है।)

(२) योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भारः (समस्त राज्यभार योग्य मन्त्री पर छोड़ दिया है)।

(३) न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन् (इस सुकुमार हरिण पर बाण मत छोड़ो)।

(४) पुरोचनो जतुगृहे अग्निमादात्, पाण्डवास्तु प्रागेव ततो निरक्रामन् (पुरोचन ने लाख के घर को आग लगा दी किन्तु पाण्डव पहले ही वहाँ से निकल चुके थे)।

(५) यतीना वल्कलानि वृक्षशाखावलम्बन्ते, अतस्तपोवनेनानेन भवितव्यम् (मुनियों के वल्कल वृक्षों की शाखाओं पर लटक रहे हैं, अतः यह तपोवन ही होगा)।

अधिकरण कारक (सप्तमी) :- किसी क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं, जहाँ पर या जिसमें का बोध किया जाता है वह अधिकरण है (आधारोऽधिकरणम्)। अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। यथा-आसने शोभते गुरुः (गुरु आसन पर शोभा देते हैं)। गुहायां वसति मुनिः (मुनि गुफा में रहता है)।

१-जब एक कार्य के हो जाने पर दूसरे कार्य का होना मालूम होता है तब हो चुके कार्य में सप्तमी होती है (यस्मिन् भवति भावलक्षणम्)। यथा-रामे वनं गते दशरथः प्राणान् अत्यजत् (राम के वन चले जाने पर दशरथ ने प्राण त्याग दिए)। एषु शयानेषु विमला रोदिति (सब के सो जाने पर विमला रोती है)। सूर्ये उदेति जगत् प्रकाशते (सूर्य के उदित होने पर जगत् प्रकाशित होता है)।

२-जिसका अनादर करके कोई कार्य किया जाता है उसमें सप्तमी होती है (षष्ठी चानादरे)। निवार्यमाणोऽपि पितरि न रन्तुमुपायनं परित्यक्तवान् (पिता के मना करने पर भी उनका तिरस्कार करके रमेश ने खेलना नहीं छोड़ दिया।)

३-'विषय में' 'बारे में' तथा रागद्योतक शब्दों में सप्तमी होती है। यथा-मोक्षे इच्छास्ति (मोक्ष के विषय में इच्छा है)। त्रिषु प्रातः काले नद्यां स्नायात्, संयुक्ते कार्यं करोति, शैशवे, यौवने, वार्धके (शैशव में)।

४-निर्धारण में षष्ठी या सप्तमी होती है (यतश्च निर्धारणम्); यथा-जातीषु (जातीनां वा) ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः, मानवेषु (मानवानां वा) पण्डिताः, कविषु (कवीनां वा) कालिदासः श्रेष्ठः। छात्रेषु (छात्राणां वा) कमलेशः बहुः (विद्यार्थियों में कमलेश बहुत है

५-संलग्नार्थक शब्दों (युक्तः, तत्परः, व्याकुल आदि) तथा चतुरार्थक शब्दों (कुशलः, निपुणः, पटु आदि) के साथ में सप्तमी होती है। यथा- कार्ये लग्नः, तत्परः। शास्त्रे निपुणः, दक्षः, प्रवीणः।

६-जिस फल की प्राप्ति के लिए कोई क्रिया की जाती है, वह फल यदि उस क्रिया के कर्म से शुद्ध हो तो उसमें सप्तमी विभक्ति होती है। (निमित्तात्कर्मयोगे)। जैसे- 'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम्। केशेषु चमरी हन्ति सीम्नि पुष्करिणं हतः।' यहाँ पर 'द्वीपिनम्' कर्म के साथ उसका 'चर्म' फल प्राप्ति है, उसी के लिए हत्या की जाती है। इसी प्रकार 'दन्तयोः' तथा 'केशेषु' तथा 'सीम्नि' में भी सप्तमी हुई।

संस्कृत में अनुवाद करो :-

१-विद्यालय में बालक और बालिकाएँ हैं। २ राम ने बचपन में विद्याएँ सीखीं। ३ गेंद के खेल (कन्दुक क्रीडायाम्) में हमारा विद्यालय प्रथम आया। ५ हेडमास्टर ने सब छात्रों को (सर्वेषु छात्रेषु) मिठाई बाँटी (वितीर्णम्)। ५ सड़क दुर्घटना में

पर घोडे दौड़ रहे हैं। ६-शरत्-काल में (शरदि) वन में मयूर नाचते हैं। ७-तुझ पर मेरा विश्वास है। ८-उसके गले (कण्ठ) में माला है। ९-क्या वह तुम्हें मार्ग में नहीं मिला ? १०-तुम्हारी कक्षा में कौन लडका प्रथम रहा ? ११ विधान-भवन में विधान-सभा की बैठकें (उपनिवेशन) होती हैं। १२-मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं और पशुओं में सिंह। १३-पशुओं में शृंगाल बहुत चतुर है। १४ इस तालाब में कमल के फूल खिले हैं। १५-साधु को मोक्ष की कामना है। १६-जिसने जवानी (यौवन) में नहीं पढ़ा, वह बुढ़ापे (वार्धक) में क्या पढ़ेगा ? १७-यौवन के मद में सभी अंधे हो जाते हैं। १८-फलों में आम (आम्र) उत्तम है। १९-जिस देश में तुम उत्पन्न हुए हो, वहीं हाथी नहीं मारे जाते (न हन्यन्ते)। २०-मजदूर सायंकाल कार्य करेगा।]

एकादश अभ्यास

सम्बोधन (प्रथमा) हे, भोः

	एकव०	द्विव०	बहुव०
पुं०	हे देव	हे देवौ	हे देवाः
स्त्री०	हे लते	हे लते	हे लताः
नपुं०	हे ज्ञान	हे ज्ञाने	हे ज्ञानानि

विशेष :- सर्वनाम शब्दों का सम्बोधन नहीं होता।

इन वाक्यों को ध्यान से पढ़ो :-

(१) हे ईश्वर ! देहि मे मुक्तिम् (ईश्वर, मुझे मुक्ति दो)।

(२) भो मित्र, क्षमस्व, अज्ञानता मया एवं भाषितम् (मित्र, क्षमा करो, अज्ञानवश मैंने ऐसा कहा)।

(३) हे बाले क्व गन्तुमिच्छसि ? (बाला, कहाँ जाना चाहती हो ?)

(४) भो महात्मन्, किं भवता भोजनं कृतम् ? (महात्मन्, क्या आपने भोजन कर लिया ?)

(५) हे पुत्र, सदा सत्यं वद, धर्मं चर (पुत्र, सदा सच बोल और धर्म का आचरण कर)।

सम्बोधन (प्रथमा) - किसी को पुकार कर अपनी ओर आकृष्ट करने को सम्बोधन कहते हैं। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है और सम्बोधनवाचक शब्द के पूर्व भोः, अरे, रे आदि चिन्ह् लगते हैं।

सर्वनाम शब्दों का सम्बोधन नहीं होता और अकारान्त शब्दों के संबोधन एकवचन में विसर्ग नहीं होता। आकारान्त और इकारान्त शब्दों के सम्बोधन एकवचन में ए (हे लते, हे हरे) और ईकारान्त शब्दों के सम्बोधन एकवचन में 'इ' (हे नदि) और उकारान्त शब्दों के सम्बोधन एकवचन में 'ओ' (हे साधो) हो जाता है।

संस्कृत में अनुवाद करो :-

१. महाराज, आपके राज्य में प्रजा को सुख है। २. मित्र, कल तुम हमारे घर आओगे ? ३. छात्रो, अपना पाठ ध्यान से पढो। ४. बालको, गुरु की सेवा करो, फल मिलेगा। ५. लडको, परिश्रम करो, अवश्य परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाओगे। ६. प्रातः उठो, हाथ-पैर धोओ और पढ़ो। ७. विद्यार्थियों, अध्यापकों का उपदेश ग्रहण करो और उस पर चलो। ८. मित्र, आपके पिता कुशल से तो हैं ? (अपि कुशली ...?) ९. पुत्र, कभी झूठ न बोल, सत्य पर चल। १०. लडकियों, तुम आज स्कूल क्यों नहीं गयी ? ११. महाशय, क्या कल मुझे दर्शन देंगे ? १२. बच्चो, समय पर उठो और व्यायाम करो। १३. पिताजी, मैं मेहनत करूँगा और परीक्षा में पास होऊँगा। १४. भरत, तुम्हारे जैसा (त्वादृशः) भाई संसार में नहीं है। १५. हे सीता, जंगल में कष्ट हैं, तुम घर पर ही रहो।

कारण बताओ कि तिरछे शब्दों में उल्लिखित विभक्तियां क्यों हुई हैं ?

(ळ) द्वितीया

१. द्यां च पृथ्वीं चान्तराऽऽकाशम् (आकाश और पृथ्वी के बीच में अन्तरिक्ष है)। २. मामन्तरेण किं नु चिन्तयत्याचार्य इति चिन्ता मां बाधते (आचार्य मेरे विषय में क्या विचार करते होंगे, यह चिन्ता मुझे दुःख दे रही है)। ३. धिक् त्वां यः कार्यानुबन्धविचारमन्तरेण कार्यं करोषि (तुम्हें धिक्कार है जो कार्य के फल पर विचार किये बिना कार्य करते हो)। ४. परितः नगरं विद्यते एका परिखा या सदैव जलपूर्णा (नगर के चारों ओर एक खाई है जो सदैव पानी से भरी रहती है)। ५. मां प्रति त्वं नासि वीरः, त्वं हि कातरान्नातिभिद्यसे (मेरे विचार से तुम वीर नहीं हो, तुम तो एक कायर से अधिक भिन्न नहीं हो)।

६-विना जलं विना वर्षं विद्युदुत्पतनं विना।
विना हरितकृतान्दोषान्केनेमौ पातितौ द्रुमौ।।

आँधी, वर्षा और बिजली गिरने के बिना तथा हाथियों के उत्पात के बिना किसने इन दो वृक्षों को गिराया है ?

(ख) तृतीया

७. शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित् प्रलीयते (चाँदनी चन्द्रमा के साथ चली जाती है और मेघ के साथ बिजली)। ८. कष्टं व्याकरणम्, इदं हि द्वादशभिर्वर्षैः श्रूयते (व्याकरण कठिन है, यह बारह वर्षों में पढ़ा जाता है)। ९. सहस्रात् मूर्खाणामेकं क्रीणीत पण्डितम् (हजारों मूर्खों के बदले में एक पण्डित खरीदना अच्छा है)। १०. स्वरेण गानमनुहरति (गान स्वर में प्यारे राग से मिलता-जुलता है)। ११. हिरण्येनार्थिनो मन्त्रिन्ति राजानः न च ते प्रत्येकं दण्डयन्ति (राजाओं को धन की आवश्यकता रहती है, किन्तु वे सभी से तो जुर्माना नहीं लेते)।

(ग) चतुर्थी

१२. अलं मल्लो मल्लाय (वह पहलवान दूसरे पहलवान के लिए काफी है)। १३. उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये (मूर्खों को उपदेश देना केवल उनके क्रोध को बढ़ाना है, न कि उनकी शान्ति के लिए)। १४. नमस्तै ऋषिकुल्येभ्यः पुराणेभ्यः मानवानामस्मै कृते आचारगुप्तीर्ये व्यदधयन् (उन प्राचीन मुनियों को प्रणाम है कि जिन्होंने मनुष्य मात्र के लिए आचरण के नियम बनाये)। १५. गोभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च स्वस्ति (गौओं और ब्राह्मणों का कल्याण हो)। १६. अलमिदम् उत्साहभंशाय भीरोर्यातो (यह उत्साह को गिराने के लिए काफी है)। १७. कृषकेभ्यः कर्मकरेभ्यश्च कुशलं भूयात् (किसानों और मजदूरों का भला हो)। १८. प्रभवति स एकेनैव शयनेन साहित्यमध्यमपरीक्षोत्तरणाय (वह एक ही वर्ष में साहित्य-मध्यमा परीक्षा में उत्तीर्ण होने के योग्य है)। १९. भवबन्धच्छिदे तस्यै स्पृहयामि न मुक्तये। यदिह प्रभुपाददासतां दधति यत्र विलुप्यते। (श्रीहनूमतः) (जिस मुक्ति में आप प्रभु हैं और मैं दास हूँ - यह भावना विलुप्त हो जाती है, भवबंधन के नाश के लिए, मैं उस मुक्ति की इच्छा नहीं करता)।

(घ) पञ्चमी

२०-धीरा मनस्विनो न धनादपैतिच्छन्ति मानम् (धीर मनस्वी लोग धन के बदले मान को नहीं छोड़ते)। २१-स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयक्रियैव (सत्पुरुषों के लिए अपने प्रयोजनों से मित्रों का प्रयोजन ही बड़ा है)। २२ नास्ति सत्यात्परो धर्मो न पापमनृतात् परम् (सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़ कर कोई पाप नहीं)। २३-ग्रामादासन्नारामः तत्र व्यवसायान्निवृत्ताः ग्रामीणा आसन्ति (गाँव के पास एक बाग है, जहाँ काम धंधे से छुट्टी पाकर ग्रामवासी आनन्द मनाते हैं)। २४-ऋते वसन्तान्नान्यं ऋतुराजः (वसन्त को छोड़ कर अन्य ऋतु को ऋतुराज नहीं कहते)। २५-मूर्खो हि चापलेन शिशुते पण्डितात् (मूर्ख का चपलता के कारण पण्डित से भेद समझा जाता है)।

(ङ) षष्ठी

२६-तस्मै कोपिष्यामि यदि तं प्रेक्षाणाऽहत्वन्तः प्रभविष्यामि (उससे मैं क्रोध करूंगी, यदि मैं उसे देखती हुई अपने आपको वश में रख सकी)। २७ गया तस्य किमपराद्धं वः गां परुषमवादीत् (मैंने उसका क्या अपराध किया जो वह मुझे ऐसी खरी सुनाने लगा) ? २८-तस्य दर्शनस्योत्कण्ठे, चिरं दृष्टस्य तस्य (मुझे उसके दर्शन की उत्कण्ठा है, उसे मिले हुए चिरकाल हो गया है)। २९- कोऽतिभारः समर्थानां किं व्यवसायिनाम् ? को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ? (कार्य में समर्थ लोगों के लिए क्या कठिन है ? व्यवसाय वाले लोगों के लिए क्या दूर है ? विद्वानों के लिए कौन-सा विदेश है ? प्रिय बोलने वालों के लिए कौन पराया है ?) ३०-कच्चिद्भर्तुः स्मरसि सुभगे, त्वं हि तस्य प्रियेति (हे सुन्दरि, क्या तुम्हें अपने स्वामी की याद है कि तुम उनकी प्यारी हो)। ३१ त्वं लोकस्य वाल्मीकिः, मम पुनरसौ एव (तुम संसार के लिए वाल्मीकि हो, किन्तु मेरे तो तुम पिता हो)।

३२-दवदहनज्वालाजालावलीढान्
परिगलितलतानां श्वासवतां भूरुहाणाम्।
आर्ये जलधर यैलश्रेणीशृंगेषु तोयं
वितरसि बहु क्रोड्यं श्रीमदस्तावकीनम्।।

हे मेघ, तेरा यह कैसा गर्व है कि जंगल की आग की ज्वालाओं से जले हुए गलित लताओं वाले, मुरझाए हुए वृक्षों का अनादर करके तू पर्वतों के शिखरों को बहुत पानी देता है।

(च) सप्तमी

३३. पुरुषभूतयो यासां पुरि कस्य न बन्धः (मानवों में श्रेष्ठ राग संसार में किसके तिरस्कार-योग्य नहीं ?) ३४. पुनर्युष्मासु प्रेक्षणपथेषु एनं समाजिघांसामि (मैं तो तुम्हारे देखते ही देखते इस (कुमार वृषसेन) को मार डालता हूँ)। ३५. यस्तु मूर्खो शासति कोऽविनयमापयति प्रजासु) पौरव के पृथ्वी पर राज्य करते हुए कौन प्रजाओं के प्रति अनाचार करता है ? ३६-लतायां पूर्वलूनायां प्रसूनस्यागमः कुतः (लता के पहले ही कट जाने पर फूल कहाँ से आ सकते हैं) ? ३७-अविज्ञाय

चन्द्रिकायां किं दीपिकागौनरुल्येन (शुभ्र ज्योत्स्ना में व्यर्थ दीपक जलाने से क्या लाभ) ? ३८-*विपदि* रक्ता शुक्रापि विपद्यते (विपत्ति में मित्र भी शत्रु हो जाते हैं)। ३९-*जीवत्सु तातपादेषु* नवे दारपरिग्रहे। मातृभिश्चिन्त्यमानानां ते हि नो दिवसा गताः (पिताजी के जीते जब हमारा नया नया विवाह हुआ था, निश्चय ही हमारे वे दिन बीत गये जब हमारी माताएँ हमारी देखभाल करती थीं)। ४०-इत्थंभावशान्तरं गते *जातुशोऽनुरागे किं वा स्मारितेन* (उस प्रकार के प्रेम के इस अवस्था में पहुँच जाने पर याद करने से क्या)। ४१-*चर्मणि द्वीपिनं हन्ति* व्याधः (शिकारी चीते को चर्म के लिए मारता है)।

१२-गते *भीष्मे* हते *द्रोणे कर्णे* च विनिपातिते।
आशा बलवती राजन् शल्यो जेष्यति पाण्डवान्॥
भीष्म, द्रोण और कर्ण के मारे जाने पर, राजन् आशा ही बलवती है कि शल्य पाण्डवों को जीतेंगे।

कारक (एक दृष्टि में)

प्रथमा -१. कर्ता में-*शिशुः* रोदिति। अहं *पुष्पं* पश्यामि।
२. कर्मवाच्य के कर्म में-*वनुभिः* फलते वेरः, *वसुभिः* पीयते जलम्।
३. सम्बोधन में - *भो गुरो* ! क्षमस्व।
४. अव्यय के साथ-*अशोक* इति विख्यातः राजा सर्वजनप्रियः।
५. नाम मात्र में-*आसीत्* राजा विक्रमादित्यो नाम।
द्वितीया १. कर्म में-*प्रजां* संरक्षति नृपः, स वै वर्धयते पार्थिवम्।
२. ऋते, अन्तरेण, विना के साथ-*विद्यामन्तरेण*, विना, ऋते वा नैव सुखम्।
३. एनप् के साथ-*तत्रागारं धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयम्*।
४. अभितः के साथ-*अभितो भवनं वाटिका*।
५. परित- के साथ-*परितो ज्ञानिनं भक्ताः*।
६. सर्वतः के साथ-*सर्वतः पर्वतं वृक्षाः*।
७. उभयतः के साथ-*गोगतीर्गुहसरतरवः*।
८. अन्तरा (बीच में) के साथ - *अन्तरा त्वां च मां वै सः*।
९. समया, निकषा (समीप) के साथ *ग्रामं समया निकषा वा नदीं*।
१०. व्याप्ति के अर्थ में-*सर्वत्रगामीहे*। *लोकं कुटिला नदी*।
११. अनु के साथ-*गुरुमनु शिष्यो* गच्छेत्।
१२. प्रति के साथ-*दीनं प्रति* दयां कुरु।
१३. धिक् के साथ-*धिक् पापं मूर्खजीवनम्*।
१४. अधिपूर्वक स्था के साथ *रमेशः गृहमधितिष्ठति* (अथवा रमेशः गृहे तिष्ठति)।
१५. अध्यास् के साथ-*नृपः सिंहासनमध्यास्ते* (नृपः सिंहासने आस्ते)।
१६. दानु, उप पूर्वक वस् के साथ-*हरिः वैकुण्ठमुपवसति, अनुवसति* वा।
१७. आवस् एवं अधिवस् के साथ-*अधिवसति काशीं विश्वनाथः। भक्त देवमन्दिरम् आवसति*।
१८. अभि-नि-पूर्वक विश् के साथ-*मनो धर्मन् अभिनिविशते*।
१९. क्रियाविशेष में-*रात्रेरं पायति नृपः। रात्रेत्र पर्यगाच्चरेत्*।
तृतीया-१. करण में-*सः जलेन मुखं प्रक्षालयति। हस्तेन भुङ्क्ते*।
२. कर्मवाच्य कर्ता में-*रामेण रावणो हतः*।
३. सख्यादि अर्थों में *रामः कृष्णेन सख्युः नाम्ना गोपालोऽयम्*।
४. सह, साकम्, *सार्धम्* के साथ-*शशिना सह याति कौमुदी*।
५. सदृश के अर्थ में - *उमेव सदृशो नास्ति बन्धुरो महीतले*।
६. हेतु के अर्थ में-*केन हेतुना अत्र वससि* ?

७. हीन के साथ-विद्यया तु विहीनस्य किं वृथा जीवितेन ते।

८. विना के साथ-श्रमेण हि विना विद्या लभ्यते न कथञ्चन।

९. अलं के साथ-अलं महीपाल तव श्रमेण

१०. प्रयोजन के अर्थ में-धनेन किं यो न ददाति नाश्नुते।

११. लक्षण बोध में-जटाभिस्तापसोऽयं प्रतीयते।

१२. फलप्राप्ति (अन्तर्गत) में-पञ्चभिर्पर्वन्यागमधीतम्। पञ्चभिर्दिनैः नीरोगो जातः।

१३. विकृत अंग में बालकश्चक्षुषा काणः कर्णाभ्यां बधिरश्च सः।

पादेन खञ्जः वृद्धोऽसौ कुब्जा पृष्ठेन मन्थरा।।

चतुर्थी-१. सम्प्रदान में-राजा ब्राह्मणाय धनं ददाति।

२. निमित्त के अर्थ में-धनं सुखाय, विद्या ज्ञानाय।

३. रुचि के अर्थ में-शिशवे क्रीडनकं रोचते।

४. धारय् (ऋणी होना) के अर्थ में-रामः मह्यं शतं धारयति।

५. स्पृह के साथ-अहं यशसे स्पृहयामि।

६. नमः, स्वस्ति के साथ-गुरवे नमः। नृपाय स्वस्ति।

७. समर्थ अर्थवाली धातुओं के साथ-प्रभवति मल्लो मल्लाय।

८. कल्प् (होना, बनाने में समर्थ होना) के साथ-ज्ञान सुखाय कल्पते।

९. तुम् के अर्थ में-ब्राह्मणः स्नानाय (स्नातुं) याति।

१०. क्रुद्ध अर्थवाली धातुओं के साथ-गुरुः शिष्याय कुध्यति।

११. द्रुह् अर्थवाली धातुओं के साथ-मूर्खः पण्डिताय द्रुह्यति।

१२. असूय् (निन्दा) अर्थवाली धातुओं के साथ-दुर्जनः सज्जनाय असूयति।

पञ्चमी-१. पृथक् अर्थ में-वृक्षात् फलानि पतन्ति। स ग्रामाद् आगच्छति।

२. भय के अर्थ में-असज्जनात् कस्य भयं न जायते ?

३. ग्रहण करने के अर्थ में-कूपात् जलं गृह्णाति।

४. पूर्वादि के योग में स्नानात् पूर्वं न भुञ्जीत न यायेत् भोजनात् परम्।

५. अन्यार्थ के योग में-ईश्वरादन्यः कः रक्षितुं समर्थः ?

६. उत्कर्ष-बोध में-जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

७. विना, ऋते के योग में परिश्रमाद् विना (ऋते) विद्या न लभ्यते।

८. आरात् (दूर या समीप) के योग में-ग्रामाद् आरात् सुन्दरमुपवनम्।

९. प्रभृति के योग में-शैशवात्प्रभृति सोऽतीव चतुरः।

१०. आङ् के साथ आमूलात् रहस्यमिदं श्रोतुमिच्छामि।

११. विरामार्थक शब्दों के साथ-न नवः प्रभुरुपकलोदयात् स्थिरकर्मा विरराम कर्मणः।

१२. काल और मार्ग की अवधि में-विवाहात् नवमे दिने

१३. जायते आदि अर्थ में-बीजेभ्यः अंकुरा जायन्ते।

१४. उद्भवति, प्रभवति, विलीयते प्रतियच्छति के साथ-हिमालयात् गंगा प्रभवति, उद्गच्छति के साथ भी-सूर्यः पूर्वस्यां दिशि उदेति। तिलेभ्यः तैलात् प्रतियच्छति।

१५. जुगुप्सते, प्रमाद्यति के साथ-स पापात् जुगुप्सते। छात्रः धर्मात् प्रमाद्यति।

१६. निवारण अर्थ में - मित्रं पापात् निवारयति।

१७. जिससे कोई विद्या सीखी जाय उसमें - छात्रोऽध्यापकात् अधीते।

षष्ठी- १. सम्बन्ध में-मूर्खस्य बहवो दोषाः सन्ति च बहवो गुणाः।

२. कृदन्त कर्ता में - अंजनस्य क्षयं दृष्ट्वा वल्मीकस्य च संचयम्।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्यात् दानाध्ययनकर्मभिः।।

३. तुल्यार्थ के साथ-रामस्य तुल्यो भुवि नास्ति राजा।

४. कृदन्त कर्म में - अन्नस्य पाकः, धनस्य दानम्।

५. स्मरणार्थक धातुओं के साथ-स मातुः स्मरति।

६. दूर एवं समीपवाची शब्दों के साथ-नगरस्य दूरं, (नगराद् वा दूरम्) समीपम् सकाशम् वा।

७. कृते, समक्षम्, मध्ये, अन्तरे, अन्तः के साथ-पठनस्य कृते, आचार्यस्य समक्षम्, बालानां मध्ये, गृहस्य अन्तरे अन्तः वा।

८. अतस् प्रत्यय वाले शब्दों के साथ-नगरस्य दक्षिणतः, उत्तरतः।

९. अनादर में-रुदतः शिशोः माता ययौ।

१०. हेतु शब्द के प्रयोग में-अन्नस्य हेतोर्वसति। निवासस्य हेतोर्याति।

सप्तमी - १. अधिकरण में-सभायां शोभते बुधः। आसने शोभते गुरुः।

२. भाव में-यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ?

३. अनादर में-रुदति शिशौ (रुदतः शिशोः वा) गता माता।

४. निर्धारण में-जीवेषु मानवाः श्रेष्ठा, मानवेषु च पण्डिताः।

५. एक क्रिया के पश्चात् दूसरी क्रिया होने पर-सूर्ये उदिते विकसति कमलम्।

६. विषय के अर्थ में तथा समयबोधक शब्दों में-मोक्षे इच्छाऽस्ति। दिने, प्रातःकाले, मध्याह्ने, सायंकाले वा कार्यं करोति।

७. संलग्नार्थक शब्दों और चतुरार्थक शब्दों के साथ-कार्ये लग्नः, तत्परः। शास्त्रे निपुणः, प्रवीणः, दक्षः आदि।

इन वाक्यों को शुद्ध करो :-

१. ब्राह्मणः नृपात् धनं याचते। २. त्वम् गुरोः निन्दसि। ३. अहम् अस्मिन् नगरे आगच्छम्। ४. भवान् कथं चौरेण बिभेति ? ५. इमां बालिकां पठनं रोचते। ६. पिता पुत्रं क्रुध्यति। ७. आचार्यः मामुपदिशति। ८. रामस्य विना अयोध्या शून्या बभूव। ९. मम भ्राता रजकाय वस्त्रमददात्। १०. सिंहः मृगस्य प्रति धावति। ११. तव साकं नाहं क्रीडिष्यामि। १२. पर्वतेभ्यः हिमालयः अत्युच्चः अस्ति। १३. नगरस्य बहिः विद्यालयोऽस्ति। १४. इमं प्रश्नं तस्मात् शिष्यात् पृच्छ। १५. बालक ! अलं हसितस्य। १६. गुरुनन्दनः नेत्रस्य काणः। १७. विद्याया हीनस्य नरस्य किं प्रयोजनं जीवितस्य।